7 ९ ९

देव यज्ञ

ब्रह्म यज्ञ

बलिवैश्वदेव यज्ञ

पञ्चयज्ञ प्रकाश

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

अतिथि यज्ञ

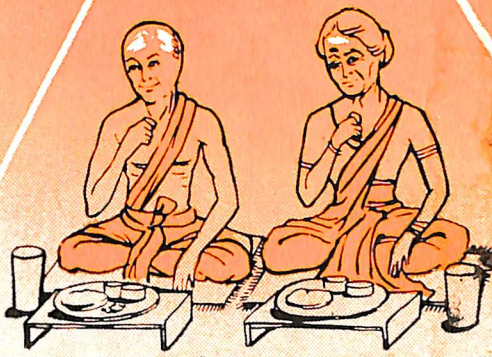

पितृ यज्ञ

पञ्चयज्ञ प्रकाश

पञ्चयज्ञ प्रकाश

लेखक
स्वामी समर्पणानन्द
(पं० बुद्धदेव विद्यालंकार)

प्रकाशक
समर्पण शोध संस्थान
४/४२ राजेन्द्रनगर, सै० ५, साहिबाबाद, गाजियाबाद (उ० प्र०)

सम्पादक :
दीक्षानन्द सरस्वती
अध्यक्ष समर्पण शोध संस्थान

प्रकाशक :
समर्पण शोध संस्थान
४/४२ सै० ५, राजेन्द्रनगर
साहिबाबाद गाजियाबाद (उ० प्र०) २०१००५
दूरभाष : ८७६३०२६

© : प्रकाशकाधीन

द्वितीय संस्करण

मूल्य : २५ रुपये

प्राप्ति स्थान :
१—समर्पण शोध संस्थान
४/४२ सै० ५, राजेन्द्र नगर, साहिबाबाद (गाजियाबाद)
२—गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-११०००६

मुद्रक :
पण्डित कम्पोजिंग एजेंसी एवं प्रिन्टर्स
सुभाष पार्क एक्स० नवीन शाहदरा
दिल्ली-११००३२

प्रकाशकीय

गुरुवर्य श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार द्वारा लिखित **'पञ्चयज्ञ प्रकाश'** नामक ग्रन्थ लगभग पिछले चार-पाँच वर्षों से अनुपलब्ध ही था। पुनर्मुद्रण से पहले मैं आवश्यक समझता था कि इसका संपादन भलीभाँति हो तभी प्रकाशित किया जाय। अति व्यस्त रहने से मुझे भी समय नहीं मिल पा रहा था। अब किसी भी प्रकार समय निकालकर यथावत सम्पादन कर प्रकाशित करवा रहा हूँ।

मैंने उचित समझा कि गुरुवर्य के पञ्चयज्ञ विषयक लेखों का भी इसमें समावेश कर दिया जाय जिससे कि पाठकों को पं० बुद्धदेव जी के पञ्चयज्ञ विषयक विचार एक ही जगह संगृहीत मिल जायें। गुरुवर्य ने प्रातःकालीन मन्त्रों की व्याख्या कर "प्रातः सूक्त" नामक एक लघु ग्रन्थ पृथक् से प्रकाशित करवाया था, उसे भी इसमें समाविष्ट कर दिया गया है। 'ऋग्वेद-मण्डल-मणि-सूत्र' में भी यह सम्पूर्ण सूक्त व्याख्यात है। अतः 'प्रातः सूक्त' और मणि-सूत्रान्तर्गत व्याख्याओं को समन्वित करके ग्रन्थ के आरम्भ में यथा-स्थान जोड़ दिया गया है। महर्षि दयानन्द ने 'संस्कार-विधि' नामक ग्रन्थ के गृहस्थाश्रम प्रकरण में सन्ध्या और अग्निहोत्र से पूर्व इस प्रातः सूक्त का विधान किया है।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
प्रातःसूक्त	...	९
प्रस्तावना	...	२२
पञ्चयज्ञ प्रकाश	...	३४
अथ ब्रह्मयज्ञ	...	६१
अथ देवयज्ञ	...	११८
अथ वैश्वदेव-यज्ञ	...	१७८
अथ अतिथि-यज्ञ	...	१८४
अथ पितृ-यज्ञ	...	१८५

प्रातः-सूक्त

सदा स्त्री-पुरुष १० बजे शयन और रात्रि के पिछले प्रहर वा ४ बजे उठके प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म और अर्थ का विचार करें। धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें। किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिए युक्त आहार-विहार, औषध-सेवन, सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य-कर्म की सिद्धि के लिए ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना भी किया करें, जिससे परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें। इसके लिए निम्न-लिखित मन्त्र हैं—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम॥

प्रातः का अर्थ है प्र+अतः अर्थात् "प्रारम्भ करता हूँ यहाँ से।" कार्यारम्भ के सर्वप्रथम अग्नि का ही स्मरण स्वाभाविक है।

प्रभुकृपा से घर-घर में प्रातःकाल का दृश्य उपस्थित हुआ है। सद्गृहस्थ कहता है कि विश्व-परिवार के अङ्गभूत इस परिवार के हम सभी सदस्य अपने ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्वादि स्वयंवृत वर्णधर्मरूप व्रत को पुकारते हैं, क्योंकि वही हमें परमाग्नि परमात्मा से मिलानेवाला दूत है—**अग्निं दूतं वृणीमहे**[1]। उसके पश्चात् हम इन्द्र को पुकारते हैं, क्योंकि

---

१. ऋ० १।१२।१

अग्नि द्वारा हमें इस पद तक पहुँचना है। **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**[1]। लक्ष्य है इन्द्र होना। जिस क्षेत्र का अग्नि आगे बढ़ता है उसी क्षेत्र का **इन्द्र** बनना लक्ष्य है। ब्राह्मणेन्द्र, क्षत्रियेन्द्र, वैश्येन्द्र, भारवाहेन्द्र, कवीन्द्र, व्याकरणेन्द्र, संगीतेन्द्र कुछ भी बनो पर बनो इन्द्र। अन्तिम लक्ष्य है उस परमेन्द्र के समर्पण हो जाना। इसलिये प्रातःकाल उठकर अग्नि और इन्द्र को बुलाते हैं। अकेला मैं नहीं, हम सभी बुलाते हैं। कहते हैं—**प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे,** परन्तु इन्द्र-पद तक पहुँचने के लिए उस प्रभु के अनेक रूपों की उपासना करनी होगी। सो अगले दो देवता हैं **मित्र और वरुण**। मित्र हमारा मार्गदर्शक है तो वरुण हमारा दोषदर्शक है, हमारे लिए दण्ड विधान करता है। हमें अपने क्षेत्र का इन्द्र बनने के लिए ये दो रूप भी धारण करने होंगे। एक, स्वाध्याय से, सत्संग से, जहाँ से भी हमें अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचने के लिए ठीक सलाह मिलेगी उसका संग्रह करना होगा। उसका नाम होगा **मित्र** देवता की उपासना। दूसरे, जबतक हम अपने प्रति कठोर नहीं होंगे और अपने-आपको शासन में नहीं चलायेंगे तबतक मित्र देवता की उपासना उपहासमात्र होगी। तब हमारे उस परम मित्र को **ही वरुण** का काम करना होगा। अन्ततः हम उस अन्तर्यामी से बचकर जायेंगे कहाँ? इसलिए हम स्वयं ही अपने मित्र तथा वरुण बनें। यही कल्याण-मार्ग है।

अब आते हैं **अश्विनौ** देवता जो सदा जोड़े के रूप में होते हैं। एक का काम है—जो हमसे आगे हैं उनसे अगला कुंडा जोड़ना; दूसरे का काम है—जो पीछे हैं उनसे पिछला कुंडा जोड़कर उन्हें आगे लाना। तब एक नियुत् (Train) बनेगी। अतः हम इन दो कुंडों के लिए **अश्वियों** को पुकारते हैं।

---

१. गीता १८।४६

भग और पूषा देवता

प्रातःकाल हम एक-दूसरे के दोषों को जानते हुए भी सहस्वी बने रहें, अतः सहन करनेवाले और शक्ति देनेवाले भग देवता को पुकारते हैं। हम आज्ञापालन के देवता "पूषा" को पुकारते हैं जिसके कि तर्क के दाँत नहीं हैं। जब विवेक से जान लिया कि अमुक पुरुष बड़ा है तो फिर आज्ञापालन में तर्क नहीं करना; जैसे कि सिर की आज्ञा को हाथ बिना तर्क के मानता है (**पूष्णो हस्ताभ्याम्**[1]), नहीं तो मित्र-वरुणादि के दिये विचार विचारमात्र रह जायेंगे। किञ्च, यदि सन्देह हो तो हम वेदज्ञान के भण्डार **ब्रह्मणस्पति** (परमात्मा तथा तदनुवर्ती ब्राह्मण) को पुकारते हैं। वे सब देवता मिलकर हमारे अन्दर अच्छे पदार्थों के उत्पादन तथा बुरों के नाश की शक्ति उत्पन्न करें, अतः सम्भूति के लिए **सोम** को तथा विनाश के लिए रुद्र को सदा बुलायें।

मंत्र-वर्णित देवता क्या हैं

अग्नि क्या है? अग्नि शब्द का अर्थ है **अग्र+नी** अर्थात् आगे खेंचकर ले-जानेवाला। कुछ वृत्तियाँ ऐसी हैं जो प्राणिमात्र को आगे खेंचकर ले जाती हैं। उदाहरण के लिए **आहार**, **निद्रा**, **भय** और **मैथुन** ये चार वृत्तियाँ ऐसी हैं जो प्राणिमात्र को धक्का देती हैं। भूख लगने पर हर प्राणी आहार की ओर भागता है। सन्तानेच्छा होने पर हर नर-मादा एक-दूसरे की ओर भागते हैं। भय उपस्थित होने पर हर प्राणी परित्राण-क्षेत्र की ओर भागता है। थकावट लगने पर हर प्राणी विश्रान्ति-धाम की ओर भागता है। अतः—

१—जठराग्नि बुभुक्षु का प्रेरक है।
२—कामाग्नि रिरंसु का प्रेरक है।

---

१. यजुः० १।१०

३—शरण परितित्रासु का प्रेरक है।

४—गृह सुषुप्सु का प्रेरक है।

परन्तु मनुष्य इन सब प्राणियों से भिन्न है। लोककल्याण की भावना मनुष्य को आहार, निद्रा, भय, मैथुन चारों का परित्याग करके लोकसेवा-रूप अग्नि में आत्माहुति तक करने के लिए कटिबद्ध कर देती है। इसी का नाम **व्रताग्नि** अथवा **दीक्षाग्नि** है। इस अग्नि का भण्डार परमपिता परमात्मा है। मनुष्य को जो भी गुण सीखना हो उसके लिए परम आदर्श परमात्मा है। इसलिए कहा है—**यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव**[1]—सम्पूर्ण विश्व जिनके गुणों की प्रतिमा अपने जीवन में उतारे वह प्रतिमा का साधन (करणे ल्युट्) कौन है? वही परमात्मा जिसने सूर्य और उषा को जन्म दिया[2]। यद्यपि वह एक छोटी-सी ही **नहि त्वस्य प्रतिमानमस्ति**[3] प्रतिमा उतार सकता है, क्योंकि कहा है **नास्य प्रतिमानमस्ति**[4] इस प्रकार परमात्मा सबके लिए आदर्श है। उसके लिए कोई आदर्श नहीं। बस, जिस प्रकार आहार, निद्रा, भय, मैथुन सब विकारों से शून्य वह भगवान् निष्काम भाव से लोककल्याण कर रहा है, उसी प्रकार मनुष्य को भी करना चाहिए, यही मनुष्य के लिए आदर्श है।

परन्तु आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि अग्नियों के बन्धनों से मुक्त होकर केवल लोककल्याण की भावना ही हमें प्रेरित करे इसके लिए साधना अपेक्षित है। अतः सबसे पहले मनुष्य व्रत धारण करे, फिर उसी व्रत को दीक्षा-कोटि तक पहुँचावे। यह दीक्षा-अग्नि ही कर्मकाण्ड की अग्नि है। इसी का नाम **यज्ञाग्नि** है जिसका वर्णन यजुर्वेद में

---

१. ऋ० २।१२।८

२. ऋ० २।१२।७

३. ऋ० ४।१८।४

४. ऋ० ६।१८।१२

दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा[1] कहकर किया गया है। यह दीक्षा-अग्नि ही मनुष्य और भगवान् के बीच में दूत है। इसीलिए कहा—**अग्निं दूतं वृणीमहे**[2]।

जिनके हृदय में यह अग्नि है वे भगवान् की सुनते हैं और भगवान् उनकी सुनता है।

यज्ञाग्नि तथा जठराग्नि आदि दूसरी अग्नियों में मुख्य भेद यह है कि अन्य अग्नियाँ मनुष्य को लेने के लिए प्रेरित करती हैं जबकि यज्ञाग्नि देने के लिए। यज्ञाग्नि का प्राणिमात्र में स्वरूप वह वात्सल्य है जो माता बच्चों को देती है। इसीलिये वेद में कहा है—**अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या**[3]—हे मनुष्यो! तुम एक-दूसरे से इस प्रकार प्रेम करो जिस प्रकार कि गाय अपने सद्योजात बछड़े से करती है।

यज्ञाग्नि का प्रभुत्व तथा जठराग्नि आदि को उसके आधीन करना ही मनुष्य का देवत्व की ओर विकास है। यह सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, वायु आदि जड़ देवता भी मुख्य रूप से देना ही सीखे हैं, इसलिए देव कहाते हैं। अतः परमदेव देवाधिदेव महादेव उस भगवान् से शिक्षा पाए हुए इन देवों की सङ्गति में बैठकर हमको भी दान करना सीखना है। इसलिए कहा—**पुनर्ददताऽघ्नता जानता सङ्गमेमहि**[4]। इनमें से स्थूल आग हमारे सबसे अधिक समीप है। इसीलिए उससे हमें देवत्व सीखना है। इसी का नाम अग्न्याधान है। इसकी दीक्षा तक पहुँचने से पहले पाँच सीढ़ियाँ हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. **आभास**—युक्ति द्वारा कार्य की ग्राह्यता का अनुभव।

---

१. यजुः० ४।७

२. ऋ० १।१२।१

३. अथर्व० ३।३०।१

४. ऋ० ५।५१।१५

२. **आवेश**—दूसरों को युक्तियुक्त आचरण करते देखकर उसका अनुकरण।

३. **आवेग**—धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा स्वयं अपने अन्दर से युक्तियुक्त आचरण की लहर।

४. **संकल्प**—युक्तियुक्त आचरण में नित्यता लाने के लिए देश-काल नियत करना।

५. **व्रत**—भगवान् को साक्षी करके किया गया दृढ़ निश्चय।

६. **दीक्षा**—लोक-समक्ष व्रत की घोषणा।

इस दीक्षा के पश्चात् मनुष्य यज्ञ का अङ्ग बनता है। इसलिए उस बन्धन-सूत्र का नाम है **यज्ञोपवीत**, अर्थात् संगठन के साथ बाँधनेवाली डोरी। यह डोरी तांबा, लोहा आदि की नहीं, प्रेम की है। इसलिए कोमल धागे की है। इसकी मज़बूती धारण करनेवालों के चरित्र पर है, निर्माण-द्रव्य पर नहीं।

यज्ञोपवीत धारण करने का उद्देश्य है—संगठन-बद्ध होना, अनुशासन में रहना, एवं कल्याण-मार्ग पर आरूढ़ होकर महामानव बनना।

इसके लिए हमें अग्निदेव-युगल की उपासना करनी पड़ेगी। हमें कल्याणमार्ग में बड़ों से कुछ लेना है और छोटों को कुछ देना है। लेने के लिए विनय का अभ्यास करना होगा और देने के लिए वात्सल्य का। जिसने विनय और वात्सल्य ये दो गुण अपने अन्दर उत्पन्न कर लिये वह अपनी परिस्थितियों पर छा जायगा, इसीलिए इन दोनों का नाम अश्विनौ है। अश् धातु का अर्थ है छा जाना, अधिकार कर लेना। विनय द्वारा हमें बड़ों पर, तथा वात्सल्य द्वारा छोटों पर छा जाना है। इसीलिए इन दोनों का नाम अश्विनौ है। वे सब जोड़े जो मिलकर अपने क्षेत्र पर छा जाते हैं अश्विनौ कहलाते हैं, जैसे—राजा-प्रजा, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य। यहाँ जीवन-यात्रा का प्रसङ्ग है इसलिए विनय और वात्सल्य ये दो अश्विनौ हैं।

अब हम उस देवता की ओर आते हैं जिसके बिना न विनय काम कर सकता है न वात्सल्य। उसका नाम है भग अर्थात् विस्मरण-शक्ति स्मरण-शक्ति का बड़ा मूल्य है, परन्तु विस्मरण-शक्ति का मूल्य भी कम नहीं है। यदि प्रातःकाल से सायंकाल तक एक बच्चा माता के प्रति जितने अपराध करता है उनका नियमपूर्वक लेखा-जोखा करके प्रत्येक के लिए ठीक-ठीक दण्ड-विधान कर दिया जाय तो माँ-बच्चों का व्यवहार कभी चल ही नहीं सकता; और यदि माता बच्चों के प्रति दिन-भर में जितने कटुवचन कहती है उन्हें गिने तो धारा ५०० के, अर्थात् मानहानि के अभियोग एक घर के भी न भुगताये जा सकें। परन्तु इन दोनों में विस्मरण हैं। सच पूछिये तो अपरिगणन शक्ति है। माता तथा बालक एक-दूसरे के दोषों को भूल जाते हैं—यह कहने से अधिक उचित यह कहना होगा कि वे दोनों एक-दूसरे के अपराधों को भूलना तो क्या, गिनती में लाने योग्य भी नहीं समझते। यह नहीं कि वे दोनों इन अपराधों का ज्ञान नहीं रखते। अतः जानते हुए भी भूलने की अथवा न गिनने की शक्ति का नाम भग देवता है। इसीलिए शतपथ में लिखा है कि भग की आँखें जल गयीं और पूषा के दाँत टूट गये।

यह पूषा देवता आज्ञा-पालन का देवता है। आज्ञा हम उसकी पाल सकते हैं जिसके प्रति हमारा भग देवता जागृत हो चुका हो, जिसको हम भजन-योग्य समझें। क्यों? ये मस्तिष्क के दाँत हैं—क्यों आई और आज्ञापालन भागा। इसलिए कहा पूषा दन्तहीन है। इस भाव को टैनीसन ने इन शब्दों में कहा है There is not to reason why सो यह आज्ञापालन पूषा का रूप है। सो अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विनौ, भग, पूषा इतने देवताओं की उपासना अर्थात् लक्ष्यानुराग, लक्ष्योत्कर्ष, स्वाध्याय, सत्सङ्ग, आत्मानुशासन, विनय, वात्सल्य, विस्मरणशक्ति तथा आज्ञापालन—इतने गुणों का विकास करके तब ब्रह्मणस्पति अर्थात् गुरु के पास जावे, तब ही उसके अन्दर सोम तथा

रुद्र की उपासना तथा सर्वदेवमय गुरु की 'प्रणिपातेन', 'परिप्रश्नेन' 'सेवया' द्वारा कृपा प्राप्त करके मनुष्य में सोम और रुद्र ये दो रूप प्रकट होते हैं। सोम का अर्थ है बनानेवाला तथा रुद्र का अर्थ है तोड़नेवाला, बिगाड़नेवाला। पाकशास्त्र में जब आप खीर या हलवा बनाते हैं तो आपका सोमरूप प्रकट होता है, क्योंकि आप खीर या हलवे का सेवन करते हैं; परन्तु जब वर्तन माँजते हैं, झाड़ू लगाते हैं, लकड़ी काटते हैं, आग जलाते हैं तो रुद्ररूप प्रकट होता है। जो मनुष्य पाकशाला में सफाई तो पूरी रखता है परन्तु बनाता कुछ नहीं, उसकी सफाई का क्या लाभ ? इसलिए जबतक हमारे अन्दर सोम तथा रुद्र देवता प्रकट न हों तो पाकशाला में जाने का क्या लाभ हुआ ? बस, यह है देव-परम्परा और सोम तथा रुद्र ये दो देव हैं फल।

परन्तु प्रातःकाल सम्पूर्ण कार्य आरम्भ करने से पूर्व धैर्य के आधार भग देवता को बार-बार स्मरण किया गया है। क्योंकि धर्म के लक्षणों में सबसे पहला स्थान धैर्य का है, और जिसमें विस्मरण-शक्ति नहीं उसमें धैर्य कहाँ ?

सभी देवताओं में प्रातःकाल के साथ जिसका सबसे अधिक सम्बन्ध है, वह है **भग** देवता। हम सबमें दोष-रहित कौन है ? कोई नहीं। यहाँ तक कि हम अपनी अल्प दृष्टि से परमात्मा को भी दोष-युक्त समझ बैठते हैं। यद्यपि परमात्मा तो वस्तुतः सर्वथा दोषरहित है, किन्तु हम अल्पज्ञ जीवों को, संसार में दुष्टों का क्षणिक सुख और धर्मात्माओं का क्षणिक दुःख देखकर प्रभु में भी दोष—त्रुटि प्रतीत होने लगती है। परन्तु मनुष्य में एक शक्ति है जिसका नाम है **विस्मरण शक्ति**। जहाँ स्मरणशक्ति हमारा कल्याण करती है वहाँ विस्मरणशक्ति भी हमारी कल्याणकारिणी है, अतः वह भी अत्यन्त आवश्यक है। नहीं तो, यदि हम एक-दूसरे के दोषों को सदा याद करते रहें तो हमारा एक क्षण भी सहयोग नहीं हो सकता, इसलिए

एक-दूसरे के वास्तविक तथा परमात्मा के प्रतीयमान दोषों को विस्मरण करके ही भजन हो सकता है। यह शक्ति सबसे अधिक भगवान् में है, इसीलिए यह हमारे असंख्य अपराधों को विस्मरण-सा करके हमारा कल्याण करता है। इसी भजन की इस आधारभूत शक्ति का नाम ही **भग** देवता है और इसके कारण ही भगवान् भग+वान् कहलाता है।

इस **भग** शक्ति के साथ परमात्मा का विशेष सम्बन्ध यह है कि रात-भर की निद्रा हमें अपने-पराये दोष भूलने में सहायक होती है। प्रातःकाल हम विस्मरण-शक्ति-सम्पन्न होकर नये सिरे से नया दिन आरम्भ करें, इसलिए **'भग'** देवता प्रातःस्मरणीयों में श्रेष्ठ है। यह **भग** देवता दूसरों से भगवान् के गुण सुन-सुनकर उत्पन्न नहीं होता, किन्तु उसकी प्रेममयी विस्मरण-शक्ति का साक्षात्कार करके जो भजन की प्रबल अभिलाषा उत्पन्न होती है उसका नाम है—जीता हुआ—स्वयं अपने प्रयत्नों से उपार्जित किया हुआ **भग**। सो, हम प्रातःकाल उस **जित भग** को, जो कि बड़ी उग्रशक्तिवाला है, उसको नित्य पुकारा करें। इस **अदिति=धरती**=मानवराष्ट्र-प्रजा का धारण करनेवाला यह **भग** देवता ही है और यह इसका पुत्र भी है, क्योंकि इसका नाम **सर्वसहा** है। हम नाना प्रकार का मैल इस अदिति माता पर गिराते हैं; किन्तु यह कुपित होने के स्थान पर हमारे दोष भूलकर=अन्धी होकर (**अन्धो भगः**, शत० १०-४-३) उन गन्दे पदार्थों को, पत्र-पुष्प-फल आदि का सुन्दर रूप देकर हमें वापस देती है। यह है विस्मरण की पराकाष्ठा, इसलिए **भग** को अदिति का पुत्र कहा है। यही धरती का विधर्त्ता है।

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥२॥

पराये आधार के बिना खड़े होने में असमर्थ **आध्र** अर्थात् दुर्बल मनुष्य, मननशील मनुष्य और यहाँ तक कि राजा भी इस भगदेवता के बिना आगे नहीं बढ़ सकते, अतः सब-के-सब कहते हैं कि हे भगदेव ! मैं तुझे पा जाऊँ—तेरी सेवा करूँ।

इस मन्त्र में दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं—**जितम् उग्रम्**। जितम् शब्द दो प्रकार से बना है। एक जित् शब्द द्वितीया का एकवचन है और दूसरा जित शब्द प्रथमा का एकवचन है। यह भगदेवता सदा जित् अर्थात् जयशील है। जिस मनुष्य में विस्मरण-शक्ति है उसमें सहन-शक्ति और धैर्य का विकास है। जितनी यह शक्ति बढ़ेगी उतनी ही सहनशक्ति और उतना ही धैर्य बढ़ेगा। इसलिए यह देवता अन्त में जीतता है। दूसरा रूप **जित** शब्द से जितम् बनता है। यह परमात्मा का भजनीय रूप श्रद्धा द्वारा उपदेशादि से प्राप्त होता है। वह उग्र नहीं होता, क्योंकि वह याचित रूप है, स्वयंलब्ध नहीं। इस स्वयंलब्ध का नाम है **जित**। किन्तु जब मनुष्य स्वयं अपने अनुभव से प्रभु की इस वात्सल्यमयी-शक्ति का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लेता है तब वह भगरूप उसके अन्दर बड़े उग्र रूप में प्रकट होता है। यह प्रभु की स्मृतिरूप अदिति अर्थात् पृथिवी में प्रकट होता है, इसलिए यह अदिति का पुत्र है। मनुष्य, धरती माता को हर प्रकार से गन्दा करता है। किन्तु यह धरती माता सूर्य की सहायता से उसे फिर शुद्ध कर लेती है। वह कौन-सा क्रूर व्यवहार है जो मनुष्य अदिति के साथ नहीं करते ? वे हल से इसकी छाती फाड़ते हैं। उसके बदले यह अन्न देती है। इसीलिए तो इसे **सर्वसहा** कहते हैं, अदिति अर्थात् अखण्डिता कहते हैं। बस, यही गुण इस विश्व को धारण करनेवाला है। हर मनुष्य दूसरे से इस गुण की आशा करता है तो क्यों न हम सब प्रातः इकट्ठे होकर इस भगदेवता को पुकारा करें ! इसके बिना तो राजा का भी व्यवहार नहीं चल सकता। सब भक्त मिलकर भगदेवता से कहते हैं—

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥३॥

हे प्रणेतः ! (हे) **सत्यराधः भग नः इमां धियं ददन् उदवा । नः गोभिः अश्वैः प्रजनय हे भग (वयम्) नृभिर्नृवन्तः प्रस्याम् ।**

हे भग ! उत्कृष्ट रचना का मूल प्रणय नहीं, प्रणेता है। तू कामना पूरी करके ही रहता है, हमें भी यह सहनशक्ति प्रदान कर और इसकी पालना भी तू ही कर। यदि हममें सहनशक्ति नहीं तो न हम गोधन को, न अश्वधन को पाल सकेंगे, न सन्तान ही को; सदा झुँझलाते रहेंगे, फिर भला हमारे घर मे **नर** कहाँ से होंगे ? इसलिए हमें उत्तम **गोधन**, उत्तम **अश्वधन**, उत्तम **नरधन** वाला बना, हमें भली प्रकार ठीक-ठीक बना।

हे भग ! विस्मरणशक्ति-सम्पन्न होने के कारण तू ही प्रकृष्ट नेता है, तू ही आराधनाओं को सत्य करनेवाला है। हम जो इस विश्व-राष्ट्रनिर्माण-रूप कर्म में लगे हैं इसमें तू हमें ऊपर उठा। हमारी नैया डूबने मत दे। बस, हमें देना है तो यह दे—गौ, अश्व और उनका ठीक उपयोग करने में हमें समर्थ कर दे, जिससे हम भी 'नृवान्' कहलायें—

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥

उत इदानीम् भगवन्तः स्याम उत अह्नाम् प्रपित्वे उत मध्ये उत (हे) मघवन् सूर्यस्य उदितौ । वयं (सदा) देवानां सुमतौ स्याम ।

इस समय अर्थात् पूर्णतया दिनोदय होने से पूर्व इस ब्राह्ममुहूर्त में हम भगशक्ति (विस्मरणरूप भजन-शक्ति) वाले हों। पूर्ण दिन-प्राप्ति पर भगदेवतावाले हों। मध्याह्न में भगदेवतावाले हों। अगले उगनेवाले सूर्योदय में हम फिर भगदेवता को पुकारते हैं। इस प्रकार हम सदा देवों अर्थात् विद्वानों के स्नेहभाजन बने रहें। भगवान् के

अनेक रूप हैं। इस समय यह जो भग-शक्ति हमारे पास है, वह दिन-भर बनी रहे। ज्यों-ज्यों दिन आगे-आगे बढ़े, भग-शक्ति भी उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, बनी रहे, मध्याह्न के सुख-विश्रान्तिमय समय में बनी रहे (सूर्यास्त तथा रात्रि की निद्रा में बनी रहे) और अगले सूर्योदय में फिर हमारे पास हो जिससे हम देवों के प्यारे बने रहें—

भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह ॥

हे देवाः भगः एव भगवान् अस्तु तेन वयं भगवन्तः स्याम। हे भग तं त्वा सर्व इज्जोहवीति सः इह नः पुरः एता भव।

हे देवो! इस समय तो यह सहनशक्ति ही, यह भगदेवता ही, हमारा भगवान् हो, इसका अनुसरण करते-करते हम भी भगवान् बन जावें (छोटे-से भगवान् ही सही)। इसलिए हे भग! संसार का हर जीव तुझे बार-बार पुकारता है। बस तू हमारे आगे-आगे चल। हमारा अगुआ बन जा। यह विस्मरणशक्ति ही हमारा भगवान् हो अर्थात् हम भगवान् जैसी विवेकशक्ति-सम्पन्न विस्मरणशक्ति पावें और उस सच्ची भग-शक्ति से हम भी (अपने-अपने छोटे-से क्षेत्रों में) भगवान् बनें। इसलिए हे भगदेवता! हर कोई तुझे बारम्बार पुकारता है। सो तू हमारा अग्रगामी बन। जहाँ-जहाँ हम चलें, आगे-आगे तू चल। हम नित्य नये मित्र बनावें। वे हमारे दोषों को विस्मृत कर सकें और हम उनके दोषों को विस्मृत कर सकें—

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥

जिस प्रकार दधिक्रावा (=विजित प्रदेश को सुव्यवस्था द्वारा पूर्णतया वश में लानेवाला) इस पवित्र पद के लिए शुचिता उत्पन्न करता है, इसी प्रकार इस विस्मरणशक्ति से नवीन उत्साह-भरी उषाएँ हमें प्राप्त होती हैं। हमारे सामने उत्साह-भरी उषाओं का जन्मदाता यह वसुविद् भगदेवता खड़ा है। हम विश्वकलह-नाशक

इस महान् (विश्वराष्ट्र-निर्माण) यज्ञ के लिए भग को याद करते हैं क्योंकि जब व्यक्तियों के दोष विस्मृत करना कठिन है तो मानव-राष्ट्र की एकता में तो परस्पर किये गये कितने ही अपराध भुलाने होंगे। सो इस (बृहतो अध्वरस्य[1]) महान् अध्वर के लिए उत्साह-भरी उषाएँ आवें और वशिष्ठ के सहायक तीव्र वाजियों की तरह भग-देवता को हमारे पास ले आवें।

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पातस्वस्तिभिः सदा नः॥

भगदेवता की कृपा से हमारी हर उषा गायें, घोड़े और वीरों से युक्त हों। सदा मंगलवाली हों। चारों ओर का स्नेह लेकर चारों ओर बरसाती हों। हे भग! अग्नि, इन्द्र आदि प्रातःस्मरणीय देवो! तुम स्वस्तियों के द्वारा सदा हमारी रक्षा करो।

---

१. ऋ० ७।११।४

प्रस्तावना

वैदिक संस्कृति को यदि एक शब्द में उपसंहृत करना हो तो वह शब्द है—यज्ञ। पौर्णमास से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञों का वितान इसका सूचक है। फिर इन यज्ञों के वितान को भी उपसंहृत किया जाय तो वह पञ्चमहायज्ञों में सिमट जायगा। समय और द्रव्य की दृष्टि से विशाल अश्वमेधादि यज्ञों को महायज्ञ नहीं कहा गया, मात्र यज्ञ कहा गया है। इसके विपरीत ब्रह्मयज्ञादि पाँचों को महायज्ञ कहकर गौरवान्वित किया गया है। कारण स्पष्ट है कि ये पाँचों ही जरामर्य सत्र हैं—जीवनपर्यन्त चलनेवाले सत्र हैं। मृत्यु होने पर अथवा संन्यस्त होने पर ही इनसे मुक्ति मानी गई है। मनु ने कहा है—**पञ्चैतांस्तु महायज्ञान् यथाशक्ति न हापयेत्।**[1]

'कोई भी गृहस्थ इन पञ्चमहायज्ञों के करने में प्रमाद न करे।' इनके मृत्युपर्यन्त नित्य-नियमित किये जाने का भी एक कारण है—एक अभ्यास, जिसकी सतत साधना आवश्यक है और जिसके सिद्ध होने पर व्यक्ति संन्यास का अधिकारी हो जाता है और साथ ही इन पञ्च यज्ञों से मुक्त माना जाता है। जिस लक्ष्य का सतत अभ्यास इन यज्ञों द्वारा कराया गया है वह है—एकत्व दर्शन। उसका उद्घोष—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभद् विजानतः। तत्र को मोहः कः

---

१. मनु० ४।२६

शोकः एकत्वमनुपश्यतः[1]। **मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे**॥ (यजुः ३६।१८) इत्यादि मन्त्रों में हुआ है। समस्त प्राणियों से आत्मवत् वर्त्तना, मित्रदृष्टि से देखना, समदर्शित्व आदि वैदिक लक्ष्य की चरम सीमा है।

जब तक व्यक्ति **अयं निजः परो वेति** की तुच्छ भावना को छोड़कर **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना को आत्मसात् नहीं कर लेता, तब तक **सर्वाणि भूतान्यात्मैव** का नित्य अभ्यास करता जाय। बस, इसी विचार को लक्ष्य में रख वैदिक मनीषियों ने इन जरामर्य्य सत्रों का—पञ्चमहायज्ञों का विधान किया है। इनके मिष से इसी भावना का नित्य अभ्यास कराया गया है। भोजन-परिपाक से पूर्व दो यज्ञों, और पश्चात् तीन यज्ञों का विधान है। भोजन की थाली सामने आने पर ही व्यक्ति की 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना का साक्षात् परिचय मिलता है। यही वह घड़ी है जब समदृष्टि होने का प्रमाण दिया जा सकता है। इसीलिए बलिवैश्वदेवयज्ञ के मिष से कुत्ते, कोढ़ी और कौए तक को खिलाकर खाने का विधान है, और यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति कुत्ते, कोढ़ी और कौए की आत्मा को भी स्वात्मवत् समझे। सतत अभ्यास से जब अपने में और इनमें कोई भी भेद न समझे, उसी दिन संन्यास ले-ले।

सम्भवतः सहसा कोई व्यक्ति कुत्ते, कोढ़ी और कौए में आत्मवत् वर्त्तने में झिझक अनुभव करे तो उस चरम लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए 'अतिथियज्ञ' का विधान कर दिया गया—सम्मुख उपस्थित अतिथि को देखकर आत्मवत् व्यवहार करने लगे; अपने खाने से पहले अतिथि को खिलाना धर्म समझे। अतिथि के साथ आत्मवत् बरतना अधिक सरल है अपेक्षाकृत कुत्ते, कोढ़ी और कौए के साथ बरतने के। और यदि कहीं अतिथि के साथ भी आत्मवत् बरतने में संकोच हो तो

---

१. यजुः० ४०।७

उनके लिए 'पितृयज्ञ' का विधान किया गया है। **आत्मा वै पुत्र नामासि** के अनुसार तुम माता-पिता की आत्मा हो और माता-पिता तुम्हारी आत्मा। इस आत्मा के नाते से जो व्यवहार माता-पिता से करे वही अतिथि और कौए, कृमि, कीट, कुत्ते, कोढ़ी तक में आत्मवत् बरते। इनमें भी आत्मा है—ऐसा स्वीकार करना आस्तिकता है, और मेरे सिवाय अन्य कौए, कुत्ते आदि में आत्मा का नकार करना नास्तिकता है। अतः जहाँ पञ्चमहायज्ञों के माध्यम से व्यक्ति की आत्मा का चरम विकास अभीष्ट है, वहाँ 'समस्त प्राणियों में भी आत्मा है' की अनुभूति कराके उसे आस्तिक बनाना भी अभीष्ट है।

ब्रह्मयज्ञ के मनसापरिक्रमा के छः मन्त्रों की अन्तिम टेक—**योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः** में भी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को परिपक्व कराया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'पञ्चयज्ञप्रकाश' स्व० श्री स्वामी समर्पणानन्द जी (पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार) द्वारा पञ्चयज्ञों का मौलिक विवेचन है। योग के अष्टांगों को ब्रह्मयज्ञ में दिखाना अपूर्व योजना है। मनसा-परिक्रमा के मन्त्रों का विवेचन उनकी प्रतिभा का परिचायक है। वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने ठीक ही लिखा था—"ब्रह्मयज्ञ के मन्त्रों में सबसे कठिन मनसापरिक्रमा के मन्त्र माने जाते हैं। उनके अर्थों में भौतिक दिशाओं को छोड़कर, मानसिक उदात्त भावों के दिग्विज्ञान का समाश्रय लेकर पण्डित जी ने मौलि-कता का परिचय दिया है। उनकी ब्रह्मयज्ञ-व्याख्या वैदिक साहित्य की श्रीवर्द्धिका है।"

इसी प्रकार देवयज्ञ के भिन्न-भिन्न अङ्गों की विशद विवेचना की गई है। उद्देश्य-प्रणिधान, ईर्ष्या-विजय, अनासक्ति, निचुम्पुण-भावना,

अदब्धता, वषट्कार, स्वाहाकार और स्विष्टकार आदि का विवेचन उनकी शास्त्रीय स्वोपज्ञ दृष्टि का परिचायक है।

लेखक ने देवयज्ञ नामक पुस्तक की प्रस्तावना में **इदन्न मम** कहकर "जलपात्र में हुतशेष घृतबिन्दु छोड़ना चाहिए अथवा नहीं" इस विवादास्पद विषय पर सप्रमाण विवेचन किया है जो किसी कारणवश 'पञ्चयज्ञ-प्रकाश' में छपने से रह गया था। उसे हम अविकल रूप से निम्नलिखित पंक्तियों में दे रहे हैं—

भाई चमूपति जी ने **इदन्न मम** कहकर जलपात्र में घृत-बिन्दु डालना ठीक है वा नहीं, इस बात के लिए प्रमाणों की चर्चा उठाई है। वे लिखते हैं कि "प्रत्येक आहुति से कुछ घृत पात्र में छोड़ने के लिए प्रमाण की आवश्यकता है···'हुतशेष घृत' के संग्रह का यह प्रकार किस प्रमाण के आधार पर स्वीकार किया जाय, इत्यादि प्रश्नों के समाधान की अपेक्षा है।" वास्तव में इस प्रश्न पर आर्य विद्वानों में मतभेद है। मुझे अर्थ के बल पर जो समझ में आया, सो लिख दिया है। पारस्कर गृह्यसूत्र के हरिहर-भाष्य में इस विषय का एक प्रमाण मिला है, सो यहाँ उद्धृत करता हूँ। फिर भी मेरा विचार अन्तिम है, ऐसा आग्रहपूर्वक नहीं कह सकता। विद्वज्जन इस विषय में मेरी सहायता करें। यदि अगले संस्करण तक कुछ नई बात पता लगेगी तो फिर संशोधन कर दूँगा। अभी तक तो मै इसी निश्चय पर पहुँचा हूँ कि घृत जलपात्र में डालना ही चाहिए। अब वह प्रमाण उद्धृत करता हूँ—

"प्रजापतये स्वाहा", "इन्द्राय स्वाहा", "अग्नये स्वाहा", "सोमाय स्वाहा" इन दो आघार (पूर्व-उत्तर) तथा दो आज्यभागों की आहुतियों के प्रसंग में हरिहर लिखते हैं—"तत्र ब्रह्मोपवेशनादि देवताभिधानपर्युक्षणान्तं कृत्वा स्रुवमादाय दक्षिणं जान्वाच्य ब्रह्मणान्वारब्धः प्रजापतये स्वाहेति मनसा ध्यायन् प्रांचमूर्ध्वमृजु-

सन्नतमाज्येन अग्नेरुत्तरप्रदेशे पूर्वाघारमाघारयति इदं प्रजापतय इति, त्यागं कृत्वा हुतशेषं पात्रान्तरे प्रक्षिपेत् ।"

आगे फिर लिखते हैं—"तथैव सोमाय स्वाहेति दक्षिणार्धं पूर्वार्धे सौम्यमाज्यभागं हुत्वा इदं सोमायेति स्वत्वं त्यजेत् ।।"

इससे स्पष्ट है कि त्यागविधि (आहुति-दान) का अंग है—हुतशेष का पात्रान्तर में डालना। यही 'हुतशेष' का अर्थ मैंने ऋषिकृत संस्कारविधि में आए 'हुतशेष' शब्द की व्याख्या में किया है।

प्रसङ्गवश एक बात उल्लेख कर देना और आवश्यक है। 'सरस्वती' नाम की प्रतिष्ठित मासिक पत्रिका में योग्य समालोचक श्री कैलाशचन्द्र जी एम० ए० ने मेरी ब्रह्मयज्ञादि पुस्तकों की समालोचना करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि "जैमिनि आदि कर्मकाण्ड-भक्तों के यज्ञों से अपूर्वोत्पत्ति द्वारा काम्य स्वर्ग आदि फल-प्राप्ति के सिद्ध करने के सम्पूर्ण परिश्रम, सिद्धान्तों और दार्शनिक गवेषणाओं की उपेक्षा कर दी है।"

इस विषय में मेरा निवेदन है कि भगवान् जैमिनि में अगाध श्रद्धा रखनेवाले मुझ सरीखे आर्यसमाजी लोग इन सिद्धान्तों की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं ? सो हमारी (आर्यसमाजियों की) दृष्टि में इसका समाधान यह है कि यज्ञों में त्यागभावना का जो उपदेश दिया गया है, संगठन के लिए स्वार्थ को बलिदान करने की जिस वृत्ति को जाग्रत करने का यह सारा उपक्रम है, उसे आचरण में लाने से **अपूर्व्व** अवश्य उत्पन्न होता है। हम चारवाक नहीं जो **अपूर्व्व** न मानते हों। अग्निहोत्र करते-करते जिसमें यह भावना जाग्रत होगी, वह जब राष्ट्र के लिए आपने-आपको बलिदान करेगा, तो वह प्रत्यक्ष में चाहे मर जाय और चारवाक के मत में नष्ट हो जाय, परन्तु हमारी दृष्टि में "अपूर्व्व" को साथ लेकर दूसरा उत्तम जन्म ग्रहण करेगा और वहाँ उसे स्वर्ग-प्राप्ति भी होगी। प्रश्न यह है कि स्वर्ग का अर्थ क्या है ? सो मैं "स्वर्ग" नामक पुस्तक में दिखा चुका हूँ। मीमांसा के शाबरभाष्य

में शबर स्वामी भी यही अर्थ करते हैं—**कौशिकानि वासांसि स्वर्गः, चन्दनानि स्वर्गः, द्व्यष्टवर्षाः स्त्रियः स्वर्ग** इति **यद् यत् प्रीतिमद् द्रव्यं तत् तत् स्वर्गशब्देन उच्यते।** (मीमांसा शाबर-भाष्य, अध्याय ६, पाद १, सूत्र १)।"

स्वार्थत्यागियों को इस प्रकार के फल मिलते हैं, यह प्रत्यक्षसिद्ध भी है। इसलिए **लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना** इस मीमांसक-न्यायानुसार हमारा ही अर्थ सङ्गत है। एक और दृष्टि से भी **अदृष्ट** अथवा **अपूर्व्व** का निर्वाह हो सकता है। दृश्यमान स्थूल यज्ञक्रिया मुख्य नहीं। वस्तुतः यज्ञका प्रधान उद्देश्य वह अदृष्ट भाव है, जिसकी ओर ये क्रियाएँ निर्देश करती हैं। यज्ञ में दृष्ट वस्तु अग्नि है। वह अदृष्ट ब्राह्मण-क्षत्रियादि सङ्कल्प अथवा राष्ट्रप्रेमादि का उपलक्षण है। सो यज्ञ की सफलता उस अदृष्टभाव की परिपुष्टि में है। इसका विशेष विवेचन तो तब ही हो सकता है यदि शतपथ ब्राह्मण के भाष्य के पश्चात् हमें मीमांसादर्शन के भाष्य का अवसर मिले, किन्तु यहाँ दिङ्निर्देश-मात्र आवश्यक था, सो कर दिया। समालोचक महोदय का हम बारंबार धन्यवाद करते हैं कि उन्होंने यह प्रश्न उठाकर हमें इस विषय में अपना आशय स्पष्ट करने का अवसर दिया। परमात्मा कृपा करें, जिससे इस संसार के मूर्धन्य राष्ट्र में फिर से अग्नि प्रदीप्त हो। यदि एक हृदय में भी अग्नि जल उठी तो मैं समझूँगा कि मेरा यज्ञ सफल हुआ। अन्त में समस्त विद्वज्जनों को साञ्जलि नमस्कार करता हूँ।"

सन्ध्या में वर्णित 'ओं वाक् वाक् ओं प्राणः प्राणः' आदि अङ्गस्पर्श-मन्त्रों के विषय में प्रायः लोग पूछते हैं कि यह वाक्य किस वेद-मंत्र के आधार पर हैं? उनके समाधान हेतु अग्रलिखित अथर्ववेद के मन्त्र दिए जाते हैं—

ओं वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥१॥
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे
सर्वात्मानिभृष्टः ॥२॥

तनूस्तन्वा मे सहे दतः सर्व्वमायुरशीय ॥१॥

(अथर्व० १९, का० ६०, सूक्त ६१)

इन मन्त्रों पर आपाततः दृष्टिपात करने से लगता है कि ये मन्त्र कुछ अस्पष्ट-से हैं, परन्तु थोड़ा-सा गम्भीरतापूर्वक विचार करने तथा इन मन्त्रों को गायत्री मन्त्र से समन्वित करके पढ़ने से एक अति चमत्कारपूर्ण रहस्य सामने मूर्तिमान् हो आता है। जिस चमत्कार का रसास्वादन स्वयं किया है उसे पाठकों को क्यों न कराऊँ !

पाठक चौंकेंगे कि इस मन्त्र का गायत्री मन्त्र से क्या सम्बन्ध है, सो पहले वही स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। गायत्री मन्त्र में एक शब्द आया है भर्गः, इसका अर्थ है भूनकर परिपक्व कर देनेवाला प्रभु का तेज। प्रश्न उठता है कि किसको भूनकर ? उत्तर है मनुष्य के बाह्य तथा आभ्यन्तर मलों को। जो मनुष्य सच्चा प्रभु-भक्त है उसके न बाह्य मल रह सकते हैं, न आभ्यन्तर। इसलिए वह तप करता है। तप का अर्थ भी है तपाना। अब मनुष्य की योग्यता इसी में है कि वह इस प्रकार तप करे कि शरीर को तो कार्यक्षमता बढ़े, परन्तु मल भस्म हो जायें। इसीलिए तप की व्याख्या में पतञ्जलि-सूत्रों के भाष्य में भगवान् वेदव्यास लिखते हैं—तप से शरीर को तपाओ परन्तु कार्य-क्षमता बढ़ाने के लिए, न कि क्लेश पहुँचाने के लिए। यही बात गीता में कही है—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥

—गीता १७।१९

दुराग्रहवश जिद में आकर अपने किसी अंग को नष्ट कर डालना अथवा किसी दूसरे के विध्वंस के लिए तप करना तामस तप है।

एक स्थान पर लिखा है—

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

—गीता १६।६

जो शरीर के अन्दर स्थित शारीरिक क्षमता वाले पाञ्च भौतिक द्रव्य-सम्भार को व्यर्थ कर्षण करते हैं और शरीर-स्थित **मैं** को अर्थात् **जीवात्मा** को व्यर्थ दुःख देते हैं, वे आसुर निश्चयवाले हैं। बस, अब भर्गः और तप का अर्थ समझ में आ गया। शरीर को तपाओ परन्तु इस प्रकार तपाओ कि क्षमता बढ़े, किन्तु दोष भून दिये जायें। परन्तु जिसे तपना था वह सर्वात्मा का सारा ढाँचा अनिभृष्ट, बिना भूना रह जाए, दोषों का भर्जन हो, यही सर्वात्मा का परिपाक है। इसी-लिए ६१वें सूक्त के आरम्भ में इसे और स्पष्ट करते हैं—**तनूस्तन्वा मे सह**—इस भाग को भी समझना आवश्यक है। इस वाक्य में **तनु** शब्द दो वार आया है। आइये, पहले इस गोरखधन्धे को समझ लें। गोरखधन्धा इसलिये कि तनू तनू के साथ हो। ये दो तनू किस प्रकार? इनमें से पहला तनू भाववाची है, दूसरा अधिकरण में प्रत्यय है। पहले का अर्थ है— तननम् अर्थात् विस्तार; दूसरे का अर्थ है—**तन्यते यत्र सा तनूः**—जहाँ जीवनरूपी ताना तना जाता है वह शरीर। सो **तनूस्तन्वा सह** का अर्थ हुआ कि इस तनू अर्थात् शरीररूपी खड्डी में आयुरूपी वस्त्र का तनू अर्थात् ताना पूरे समय तक, सम्पूर्ण आयु तक चलता रहे। अब वे ताने कौन-से हैं जो इस तनू में ताने जाते हैं, उसे बताते हैं—आसन् अर्थात् मुख में वाक् का ताना, नाक में प्राण का ताना, कानों में श्रवण-शक्ति का ताना, केशों में काले रंग को उत्पन्न करनेवाले यौवन का ताना, दाँतों में कीड़ा न लगने देने वाला श्वेत तथा रुधिर न बहने देनेवाला ताना (दन्त-रोग में दाँतों से खून जाने

लगता है), बाहुओं में बल, उरुओं में ओज, जङ्घाओं में वेग, पैरों में प्रतिष्ठा अर्थात् बोझ उठाने की शक्ति, ये सब वस्तुएँ—अरिष्टानि अचूक बनी रहें। तब मैं समझूँगा कि तप ने दोषों को तो भून दिया, परन्तु अङ्ग कोई दग्ध नहीं हुआ। अब आशय स्पष्ट हो गया—ये अरिष्टानि मेरे अचूक रहें, कौन अचूक रहें? इसका उत्तर है मुख में वाणी, नासिकाओं में प्राण-संचार, आँखों में भाव-ग्रहण तथा भाव-प्रकाश की शक्ति, कानों में श्रवण-शक्ति, केशों में अपलितत्व, दाँतों में अशोणत्व, भुजाओं में बल, उरुओं में ओज, जंघाओं में वेग, पैरों में प्रतिष्ठा—एतानि सर्वाणि अरिष्टानि सन्तु—ये सब अचूक बनी रहें। यह सारी तनू अर्थात् ताने-बाने की प्रक्रिया मेरी तनू अर्थात् देहरूपी खड्डी के साथ सदा रहे और इदतः=इससे ही मैं सर्वमायुरशीय=सम्पूर्ण आयु का सुखपूर्वक उपभोग करूँ। यहाँ इस अरिष्टानि का विशेष वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि साधनानि हैं।

सन्ध्याकाल और पंडित सातवलेकर जी

वेदमूर्ति श्री पं० सातवलेकर जी ने अपनी पुस्तक में दो, तीन, और चार बार भी सन्ध्या लिखी है और इस विषय में वेद के प्रमाण भी दिये हैं। हम उन प्रमाणों की परीक्षा करना चाहते हैं। तीन बार सन्ध्या के उन्होंने कई प्रमाण दिये हैं। उनमें से एक प्रमाण हम ले लेंगे। एक प्रमाण उन्होंने चार बार की सन्ध्या का दिया है। उसकी भी परीक्षा करेंगे। पहले हम चार बार की सन्ध्या का प्रमाण लेते हैं—

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥

इस मन्त्र की व्याख्या में पूज्य पंडित जी लिखते हैं कि 'सायं, प्रातः, दिवा, रात्र्या—ये चार शब्द विभागों के बोधक हैं।' पंडित

जी हमें क्षमा करें, यों तो दिवा और रात्र्या इन दो भागों में पूरे चौबीस घण्टे आ गए। अच्छा, हम थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं कि सायं और प्रातः की सन्धिवेला को इन दिन और रात से अलग कर देना चाहिए। तो भी इन चारों के मिलने से तो पूरे चौबीस घण्टे आ गए। तो क्या पंडित जी की सम्मति में निद्रा, स्नान, मलत्याग, भोजन, स्वाध्यायादि सब कर्मों का परित्याग करके चौबीस घण्टे "नमः ही नमः" करते रहना चाहिये? सचमुच वेद का आशय क्या है, वह अगले शब्दों में वेद ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है। यह नमः क्रिया किसके लिए की जाती है? 'भवाय च शर्वाय च उभाभ्याम्' भव और शर्व दोनों के लिए। इस 'उभाभ्याम्' की ओर पण्डित जी का ध्यान नहीं गया। वेद का आशय स्पष्ट है। मैं सायं शर्व को नमस्कार करता हूँ। इधर मैंने अपने दैनिक कार्य्यों का संहार किया है और उधर उसने सूर्य की रश्मियों का संहार करके कार्य बन्द करने की सूचना दी है। इसलिए यह काल सायंकाल है क्योंकि इसमें सब कार्य्यों का अन्त होता है (षो अन्तकर्मणि)। मैं सायंकाल नमन इसलिए करता हूँ कि रात्रि-भर निद्रा में मेरा सिर जगज्जननी के चरणों में झुका रहे। प्रातःकाल आया, शर्व की शर्वरी गई। अब "प्र अतः" अर्थात् यहाँ से सब कार्य प्रारम्भ होते हैं, ऐसा समय आया। इस समस्त दैनिक व्यापार के भव-काल में मैं भव का स्मरण करता हूँ, जिससे समस्त दिन मेरा सिर उसके सामने झुका रहे। पण्डित जी का ध्यान सायं, प्रातः, रात्र्या, दिवा इन चार की ओर तो गया, किन्तु 'भवाय शर्वाय उभाभ्याम्' इसमें "उभाभ्याम्" की ओर नहीं गया। इसीलिए यह भूल हुई। यही बात इस रहस्य को समझकर मनु महाराज ने इस प्रकार कही है—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवा कृतम्॥

प्रातः-सन्ध्या के जप से रात्रि-भर की और सायं-सन्ध्या से दिन-भर की दुर्वासनाओं का नाश होता है।

अब लीजिये त्रिकाल-सन्ध्या का प्रमाण—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यं दिवस्परि।
श्रद्धां सूर्य्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

'प्रातः, सायं और मध्याह्न में हे श्रद्धे! हमारे अन्दर सत्य की स्थापना कर।' अथवा "धेट् पाने" से 'सत्य पिला' ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं। अब प्रश्न उठता है कि श्रद्धा तो यज्ञमात्र की जननी है, फिर पण्डित जी ने श्रद्धा का अर्थ केवल सन्ध्या ही कैसे कर लिया? ब्रह्म-यज्ञ और बलिवैश्वदेव-यज्ञ दोनों ही श्रद्धाजन्य हैं। स्मृतिकार मनु महाराज ने सन्ध्या प्रातः-सायं रखी है, और बलिवैश्वदेव-यज्ञ भोजन से पूर्व मध्याह्न में। पण्डित जी ने तीनों स्थानों में सन्ध्या अर्थ क्यों किया, यह निश्चित रूप से समझ नहीं आता।

तीन बार सन्ध्या करने से कुछ पाप उदय होता है, ऐसा हमारा आशय नहीं है। किन्तु समाज में एक मर्यादा बाँध दी जाती है कि अमुक कर्म्म इतनी बार अवश्य करना। सो वह नित्यविधि सायं-प्रातः दो कालों में सन्ध्या करने की है—ऐसा जो निश्चय शास्त्रमर्मज्ञ महर्षि ने किया है, वह ठीक ही है। आशा है पण्डित जी हमारी धृष्टता को क्षमा करेंगे।

इच्छा थी कि मैं, प्राचीन सन्ध्या तथा अग्निहोत्र-पद्धति लेकर, ऋषि दयानन्द ने उनमें से कितना भाग रखा है और कहाँ परिवर्तन किया है, और यदि परिवर्तन किया है तो क्यों किया है, इन प्रश्नों पर भी विचार करता, किन्तु ये सब प्रश्न स्वतन्त्र खोज की अपेक्षा रखते हैं।

सामग्री के विषय में—

सामग्री के द्रव्यों का वर्णन, इन पर गुरुकल काँगड़ी में की गई

वैज्ञानिक खोज, आदि भी कई अंग थे, जिनका इस पुस्तक में समावेश करने की कई मित्रों ने सलाह दी। इन विचारों को फिर किसी समय के लिए छोड़ रहा हूँ। इन प्रश्नों के विचार से भी अधिक आवश्यक मंत्रों का ठीक अर्थ है। यह कालातिपात सहन नहीं कर सकता, इसके बिना नित्यकर्मों में रुचि नहीं उत्पन्न होती तथा इन कर्मों से जो आत्मोन्नति करना ऋषियों को अभीष्ट था प्रजा उससे प्रसन्न थी।

पंचयज्ञ-प्रकाश

संगति-सूत्र

ग्रन्थ-प्रयोजन

आर्य्यों के दैनिक कर्त्तव्यों में पाँच यज्ञों अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, देव-यज्ञ, बलिवैश्वदेव-यज्ञ, अतिथि-यज्ञ और पितृयज्ञ इनकी जो महिमा कही गई है, वह किसी से छिपी नहीं है। इन पाँच-सात मिनट में या अधिक-से-अधिक एक घण्टे में समाप्त हो जाने वाले यज्ञों को महायज्ञ का नाम दिया गया है। पौर्णमास से लेकर अश्वमेधपर्य्यन्त किसी भी यज्ञ को यह नाम नहीं दिया गया, किन्तु इन्हें महायज्ञ कहा गया है। मनु महाराज लिखते हैं—**पञ्चैतांस्तु महायज्ञान् यथाशक्ति न हापयेत्** (४।२१)। इससे स्पष्ट है कि इन यज्ञों की बड़ी महिमा है। ऋषि दयानन्द ने भी 'संस्कारविधि' तथा 'सत्यार्थप्रकाश' में इनकी महिमा गाई है और '**पञ्चमहायज्ञविधि**' नामक एक स्वतन्त्र पुस्तक इस विषय में लिखी है। परन्तु जब तक हम इन यज्ञों के वास्तविक मर्म को न जान लें तब तक कोरे मन्त्र-पाठ में और मूर्ति-पूजा में विशेष भेद नहीं दीखता। इसलिए आवश्यक है कि इनका भाव भली प्रकार समझा दिया जाय। इसी लक्ष्य को सामने रखकर हमने यह 'पञ्चयज्ञ-प्रकाश' नामक लघु ग्रन्थ तीन भागों में लिखा है। पहले इसके दो भाग आर्यप्रतिनिधि-सभा, पंजाब की ओर से 'ब्रह्म-यज्ञ' और 'देव-यज्ञ' के नाम से छपे थे, किन्तु अब उनमें कुछ आवश्यक परिवर्तन करके इस ग्रन्थ को यह रूप दिया गया है। ग्रन्थ-लेखक की

पहले भी ऐसा करने की इच्छा थी, किन्तु समयाभाव से ऐसा न हो सका। अब समय मिलने पर 'पंचयज्ञ-प्रकाश' पाठकों के सामने उपस्थित है। विश्वास है कि इसका भी पूर्ववत् आदर होगा।

पुनरावृत्ति

काव्य के क्षेत्र में पुनरुक्ति को दोष माना जाता है, किन्तु कर्म्मकाण्ड में वही गुण है। एक ही मन्त्र को सहस्र बार जपने से उसकी भावना हृदय में गहरी होती जाती है और लक्ष बार जपने से वह और भी बद्धमूल हो जाती है। इसलिए कर्म-काण्ड में पुनरुक्ति दोष नहीं, अलङ्कार है। अब प्रश्न होता है कि वह कौन-सी भावना है, जिसकी कर्म्म-काण्ड में पुनरावृत्ति की गई है?—वह है त्याग की भावना। वर्तमान युग में जो समस्या सारे संसार को व्याकुल कर रही है, वह यही बँटवारे की समस्या है। अन्न पैदा होता है और इतना पैदा होता है कि इससे दुगुनी जन-संख्या भी खाकर तृप्त हो जाए, परन्तु लोग फिर भी भूखे हैं। वस्त्र बनते हैं और इतनी पर्याप्त मात्रा में बनते हैं कि इससे दुगुने बड़े मानव-समाज के भी शीतोष्ण का निवारण कर सकें, किन्तु लाखों नर-नारी फिर भी नंगे बिलबिला रहे हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कहीं-न-कहीं इन आलम्बन-पदार्थों का सञ्चय हो गया है। बस, उस सञ्चय का अपचय करके सबके साथ परिचय कराना ही सब पुरुषों का निश्चय होना चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के—इस सञ्चय के निवारण के दो उपाय हैं: एक तो यह कि जहाँ-जहाँ सञ्चय हुआ है, वहाँ से छीनकर कोई अर्थार्थियों को पहुँचा दे; और दूसरा यह कि सञ्चय करनेवाले दान की महिमा को समझकर आन्तरिक सद्भावना के बल से स्वयं उन सञ्चित द्रव्यों का वितरण कर दें। बस, इस वितरण की भावना को दृढ़ करना ही यज्ञमात्र का उद्देश्य है। इसी एक भावना की समस्त यज्ञों में नाना प्रकार से पुनरावृत्ति की गई है। और यदि यह

पुनरावृत्ति लाख बार नहीं, करोड़ बार फिर-फिर की जाय, तो भी थोड़ी है। जो लोग या तो कर्म करते नहीं और यदि करते भी हैं, तो उसके फल को इस प्रकार दबाकर रखते हैं कि वे स्वयं ही उसका उपभोग करें—दूसरा कोई न करे, यह आसुरी भावना है। जब तक वे संचय-त्याग नहीं करेंगे अर्थात् फल को बाँटकर खाना नहीं सीखेंगे, तब तक यह आवृत्ति चलती ही जायगी। इसलिए यही एक भावना है, जिसकी इन यज्ञों में बारम्बार पुनरावृत्ति की गई है।

ब्रह्म-यज्ञ

अब प्रश्न यह उठता है कि यह कर्म्म करना और फल की इच्छा न करने का गुण कहाँ से सीखा जाय? इसका उत्तर है कि जिनमें यह गुण है, उनकी सङ्गति से। इस प्रकार के निष्काम कर्म करने वालों में सबसे बड़ा स्थान परब्रह्म का है। उसे अन्न, जल, स्तुति, पूजा किसी भी फल की कामना नहीं, तो भी कर्म में वह निरन्तर प्रवृत्त रहता है, कभी विश्राम नहीं लेता। त्याग की इस भावना को, इस निष्काम कर्म की भावना को सीखने का सबसे अच्छा उपाय उसकी उपासना, अर्थात् उसके पास बैठना है।

स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः

इस भावना को सीखने का दूसरा उपाय ब्रह्म अर्थात् वेद का और उसके अनुकूल अन्य ग्रन्थों का, जिनमें ऋषियों ने वेद के दिये विद्या-बीज का विकास किया हो, स्वाध्याय करना है। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

'स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः' —शत० ११।५।६।२

स्वाध्याय की महिमा शतपथ में अनेक रूपों से कही गई है। उसमें से थोड़ा-सा उद्धरण यहाँ दिया जाता है—

अथातः स्वाध्याय-प्रशंसा। प्रिये स्वाध्याय-प्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहरहरर्थान्त्साधयते सुखं स्वपिति परम चिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रिय-संयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशोलोकपक्तिः।

—श० ११।५।७।१

यदि ह वा अप्यभ्यक्तः अलंकृतः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीतऽ आहैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते य एवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते (मनुस्मृतौ २।१६७)—**आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तप। यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्॥**

—श० ११।५।७।४

यन्ति वा आपः एत्यादित्यः एति चन्द्रमा यन्ति नक्षत्राणि यथा ह वा एता देवता नेयुर्न कुर्युः एवं हैव तदहर्ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यस्तस्मादप्यृचं वा यजुर्वा साम वा गाथां वा कुंब्यां वाभिव्याहरेद् व्रतस्याव्यवच्छेदाय।

—श० ११।५।७।१०

अब स्वाध्याय की प्रशंसा सुनिये—

स्वाध्याय और प्रवचन दो अत्यन्त प्रिय कर्म हैं। जो इनको करता है, उसका मन एकाग्र रहता है, वह कभी पराधीन नहीं होता, उसके कार्य दिनोंदिन सिद्ध होते जाते हैं, वह सदा सुख की नींद सोता है, उससे बढ़कर अपने रोगों का चिकित्सक कोई नहीं होता। स्वाध्याय के इतने फल हैं १—इन्द्रिय-संयम, २—चित्त की एकाग्रता, ३—बुद्धि की वृद्धि, ४—यश का लाभ, ५—लोक का परिपाक अर्थात् जो स्वाध्यायशील के संसर्ग में आते हैं, परिपक्व हो जाते हैं। यदि कोई मनुष्य सुगन्धित तेल लगाकर, शृङ्गार करके, पेट-भर भोजन किए हुए नर्म शय्या पर लेटा हुआ भी स्वाध्याय में लगा रहता है, तो मानो उसने नख से शिखा तक तपस्या की।

नदियाँ नित्य बहती हैं, सूर्य नित्य चलता है, चन्द्रमा नित्य यात्रा करता है, नक्षत्र सदा अपनी परिक्रमाओं में घूम रहे हैं। जिस दिन कोई ब्राह्मण स्वाध्याय नहीं करता, उस दिन वह ऐसा ही काम करता है जैसे जल, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ये सब देव अपना कार्य करना छोड़ दें। इसलिए स्वाध्याय नित्य करना चाहिए। कुछ नहीं तो एक ऋचा, एक यजुर्वाक्य, एक सामवचन, एक गाथा या एक लोकोक्ति का ही उच्चारण कर ले, जिससे कि स्वाध्याय का व्रत टूटने न पावे।

यह स्वाध्याय वह है, जो स्वयं किया जाता है। विद्वान्, पुरोहित तथा अतिथि से जो श्रवण किया जाता है, उसका वर्णन अतिथियज्ञ में करेंगे।

इस ब्रह्मयज्ञ के पश्चात् देवयज्ञ है। देवयज्ञ का भाव है, देवों का परस्पर मिलकर कार्य करना। भगवान् परब्रह्म में ये सब देव दिव्य गुणों के रूप में कार्य कर रहे हैं, किन्तु एक ही परब्रह्म में, जो परस्पर विरोधी गुण कार्य कर रहे हैं, उनका सीखना तो दूर, किन्तु समझना भी कठिन है। वह अग्नि भी है, सोम भी है; अश्वि भी है, विष्णु भी है; इसलिए उस भगवान् ने वेद द्वारा हमें इस विद्या का उपदेश अपनी स्थूल सृष्टि द्वारा दिया है। यहाँ अग्नि और सोम आग और पानी के रूप में साफ़-साफ़ पृथक्-पृथक् अनुभव किये जा सकते हैं। जिस प्रकार उसकी सृष्टि में आग और पानी के समान परस्पर-विरोधी गुण रखनेवाले जड़ देव उसकी आज्ञा से प्रेरित होकर बड़े-बड़े काम कर रहे हैं, इसी प्रकार मनुष्यों को भी उचित है कि इन जड़ देवों से काम लेना सीखें और इनके सदृश परस्पर-विरोधी गुण रखनेवाले मनुष्यों के परस्पर सहयोग से सृष्टि के कार्यों को यथावत् चलाना सीखें। इन जड़ पदार्थों को देव इसलिए कहते हैं क्योंकि ये उत्तम गुणों द्वारा हमें सुख 'देते हैं' और निष्काम सेवा और आज्ञा-पालन का निरन्तर उपदेश 'देते हैं'। सूर्य हमें गर्मी, प्रकाश, प्राण,

शक्ति और निष्काम सेवा का उपदेश देता है। चन्द्रमा नेत्रों को प्रसन्नता देता है, उल्लास देता है और निष्काम सेवा का उपदेश देता है। वायु निरन्तर गतिशील है और समस्त वनस्पति-जगत् में उत्पादक द्रव्य को एक फूल से दूसरे फूल तक पहुँचाता है तथा प्राण-शक्ति देता है और साथ-ही-साथ निष्काम सेवा और आज्ञा-पालन का उपदेश देता है। यही कारण है कि अपने आचरण द्वारा मूक उपदेश देनेवाले ये जड़ पदार्थ जड़ देवता कहलाते हैं। भगवान् हमें उपदेश देने के लिए वेद में इन्हें ही दृष्टान्त-रूप से उपस्थित करते हैं।

निष्काम सेवा, परस्पर सहयोग और आज्ञा-पालन, ये तो इनके सामान्य गुण हैं, किन्तु इनसे जो विशेष गुण सीखने चाहिएँ उनका वर्णन देव-यज्ञ के प्रसङ्ग में करेंगे।

ब्रह्मयज्ञ और देवयज्ञ के पश्चात् भोजन से पूर्व बलिवैश्वदेव का विधान है। कारण यह कि इन दो यज्ञों के पश्चात् संसार में अपने-अपने कार्य में लगने के पीछे मनुष्य के हृदय में अभिमान उत्पन्न होने का भय होता है, अतः उसी समय वैश्वदेव-यज्ञ किया जाता है।

ब्रह्म-यज्ञ, देव-यज्ञ और वैश्वदेव-यज्ञ में मनुष्य स्वयं मन्त्रों के अर्थ-चिन्तनसहित उच्चारण से अपना कल्याण करता है। किन्तु मनुष्य के लिए इतना ही तो पर्याप्त नहीं। वह बहुत-सी बातों को स्वयं नहीं समझ सकता, इसलिए उसे ब्रह्मचर्य्य-काल में गुरु-सेवा करनी पड़ती है। गुरु-सेवा ब्रह्मचर्य्य-काल में ही समाप्त न हो जावे, इसलिए अतिथि-यज्ञ और पितृ-यज्ञ, दो यज्ञ और रखे गए हैं। अतिथि-यज्ञ में मनुष्य घर बुलाकर सबकी सेवा करे; किन्तु जिस दिन कोई विद्वान् घर में आ जाय, तो उस दिन अहोभाग्य समझे। कदाचित् अचानक अतिथि न आए तो गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह स्वयं ढूँढकर अतिथि को घर में लावे और उससे यथासम्भव उपदेश ले।

फिर केवल विद्वान् ही हमारा कल्याण नहीं कर सकते। संसार

के अनुभवी वृद्धपुरुषों का भी सत्सङ्ग आवश्यक है। इन्हीं अनुभवी वृद्ध पुरुषों की संज्ञा पितर है, अतः पितृयज्ञ करे। इस पितृयज्ञ द्वारा जहाँ एक ओर उनके प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन है, वहाँ दूसरी ओर उनके अनुभव का लाभ। चाहे वे बिलकुल निरक्षर भी क्यों न हों, तो भी उन्होंने संसार देखा है, उनसे कुछ-न-कुछ ज्ञान-लाभ अवश्य होता है, इसलिए उनकी पूजा सर्वथा उचित है। मान लो कि उनमें यदि अब हमें कुछ भी देने की शक्ति नहीं रही, तो भी वे इतने दिन हमें जो देते रहे हैं, वह क्या कुछ कम है? इसलिए और नहीं तो शुद्ध कृतज्ञता से उनकी पूजा करनी चाहिए। यह इस यज्ञ की अन्य यज्ञों से विशेषता है। इस प्रकार सबका सार यह हुआ—

ब्रह्मयज्ञ—प्रभु-भक्ति, स्वाध्याय, आत्मिक शक्ति तथा ज्ञान-वृद्धि के लिए।

देवयज्ञ—परस्पर सहयोग का तत्त्व सीखने के लिए।

वैश्वदेवयज्ञ—अभिमान दूर करने के लिए।

अतिथियज्ञ—उपदेश-कर्त्ता से साक्षात् ज्ञान-प्राप्ति तथा उसकी सेवा के लिए।

पितृयज्ञ—कृतज्ञता की भावना दृढ़ करने तथा ज्ञान-प्राप्ति के लिए।

इस प्रकार संक्षेप से पाँचों यज्ञों का परस्पर सम्बन्ध दिखाकर सबसे मुख्य ब्रह्मयज्ञ का वर्णन आरम्भ करते हैं।

पद्धति ब्रह्मयज्ञ की

प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर मलत्याग द्वारा पेट को, व्यायाम द्वारा रोम-कूपों को, दन्त-धावन द्वारा मुख को, तथा स्नान द्वारा त्वचा को शुद्ध करके स्वच्छ वायु में, और हो सके तो नदी-तीर पर सन्ध्या करने बैठे।

सबसे प्रथम तीन प्राणायाम करके मन को सन्ध्या के अनुकूल

बनावे। फिर गायत्री-पाठपूर्वक शिखा-बन्धन करे। शिखा मनुष्यों के सद्विचारों और सद्भावनाओं की प्रतिनिधि है। जिस प्रकार शिखा के बाल बिखरे हुए भद्दे और शक्तिहीन होते हैं, किन्तु बँधे हुए सुन्दर तथा शक्ति-सम्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार वे भावनाएँ बिखरी होकर भद्दी और शक्तिहीन होती हैं, किन्तु बँधकर सुन्दर और शान्ति व शक्ति-सम्पन्न हो जाती हैं। इसी भाव को स्मरण दिलाने के लिए शिखा-बन्धन है। किन्तु यदि किसी कारण शिखा-बन्धन न हो सके अथवा किसी के रोगादि के कारण शिखा ही न हो, तो वह सन्ध्या नहीं कर सकता, ऐसा समझना मूर्खता है।

शिखा-बन्धन के पश्चात् **शन्नो देवीरभिष्टये** इस मन्त्र से तीन बार आचमन करे।

आचमन का परिमाण है : "उतने जल को हथेली में ले के उसके मूल और मध्य देश में ओष्ठ लगाके करे कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय-देश तक पहुँचे। न उससे अधिक, न न्यून"।

(सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)

फिर ओं वाक्-वाक् इत्यादि मन्त्रों से अंगस्पर्श करे। उसके पश्चात् वाम हाथ में जल लेकर दक्षिण हस्त की अंगुलियों द्वारा शरीर के अङ्गों पर **'ओं: भू पुनातु शिरसि'** आदि मार्जन-मन्त्रों से छींटे दे तथा **'ओं भू: ओं भुव: स्व:'** आदि मन्त्रों से प्राणायाम करे, तत्पश्चात् अघमर्षण मन्त्रों से पाप के अवमान और अभिमान इन दो सहायकों को दूर करके पाप के आक्रमण को सहन करने की शक्ति उत्पन्न करे।

इसके पश्चात् **शन्नो देवी** इस मन्त्र से तीन आचमन, फिर **ओं प्राची दिगग्निरधिपति:** इत्यादि मन्त्रों से सामने, पीछे, दायें, बायें, नीचे और ऊपर हमारे सब ओर हमारा प्रभु है और हमें उसके न्याय पर भरोसा है—यह प्रेम की भावना धारण करे, जिसे अहिंसा की

भावना भी कहते हैं। उसके पश्चात् **उद्वयं तमसस्परि** इत्यादि मन्त्रों द्वारा यमों में से दूसरे यम 'सत्य' का व्रत धारण करे।

फिर **तच्चक्षुर्देवहितम्** इस मन्त्र से ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करे। इसके पश्चात् गायत्री द्वारा ईश्वर-प्रणिधान नामक मुख्य अंग की पूर्ति करे।

उसके पश्चात् **नमः शम्भवाय च** इस मन्त्र से शम् से आरम्भ की हुई सन्ध्या का शम् से उपसंहार करे। (इस समय फिर **शन्नोदेवी** इस मन्त्र से आचमन करे।)

पद्धति-भेद—ऋषि दयानन्द ने यह पञ्चयज्ञ-पद्धति सत्यार्थ-प्रकाश, संस्कार-विधि तथा पञ्चमहायज्ञ-विधि तीनों में दी है। किन्तु तीनों में थोड़ा-थोड़ा भेद है, **'जातवेदसे सुनवाम'** यह मन्त्र संस्कार-विधि में दिया गया है, पञ्चमहायज्ञ-विधि में नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कार-विधि में आचार्य ने कुछ भाग किसी को ग्रन्थान्तर से लेने के लिए कहा होगा और निर्देश किया होगा कि पञ्चमहायज्ञ-विधि से मिला ले, किन्तु लेखक के प्रमाद से ऐसा न हो सका। परन्तु इसमें करना वही चाहिए, जो पञ्चमहा-यज्ञ-विधि में कहा है। इसका कारण यह है कि वह ग्रन्थ इसी उद्देश्य से लिखा गया है और ऐसी ही धर्माय्य-सभा की व्यवस्था है।

यद्यपि एक मन्त्र न्यून या अधिक पढ़ लेने से कोई पाप नहीं, किन्तु यह सब विधि इसीलिए निश्चित की जाती है कि जिससे यदि बहुत-से लोग इकट्ठे होकर सन्ध्या करें, तो एक-समान प्रकार कर लेने से व्यवस्था-जन्य सुन्दरता आ जाए, और भिन्न-भिन्न प्रकार करने से अव्यवस्था-जन्य भद्दापन न आ पाए। सन्ध्या-अग्निहोत्र आदि में जो बाह्य क्रियाएँ की जाती हैं, उनका बहुत बड़ा मूल्य इस सदृशता (Uniformity) में ही है, अन्यथा ये बाह्य क्रियाएँ गौण हैं।

हमारा यह तात्पर्य नहीं कि ये क्रियाएँ करनी ही नहीं चाहिएँ। किन्तु हमारा अभिप्राय केवल इतना है कि इनके पीछे पञ्च यज्ञों को

ही न छोड़ बैठना चाहिए। यदि कभी किसी विशेष कारण से इनमें से कोई बाह्य क्रिया न हो सके, तो कोई क्षति नहीं।

उदाहरण के लिए, सन्ध्या में मार्जन-क्रिया के विषय में सत्यार्थ-प्रकाश में ऋषि लिखते हैं—

"पश्चात् मार्जन, अर्थात् मध्यमा और अनामिका अंगुलि के अग्र-भाग से नेत्रादि अंगों पर जल छिड़के। उससे आलस्य दूर होता है। जो आलस्य और जल प्राप्त न हो, तो न करे।"

साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि यहाँ जो आलस्य अथवा प्रमाद-वश यज्ञ का कोई अंग छोड़ा जाय, तो उसका समर्थन नहीं, किन्तु इन पंक्तियों को लिखने का हमारा केवल इतना भाव है कि यज्ञों में मुख्यता मन्त्रों की और उनमें भी अर्थ-चिन्तन की है; अर्थ की अपेक्षा शब्द गौण है और शब्द की अपेक्षा बाह्य विधि। वैसे सभी आवश्यक हैं और जितना सबको मिलाकर कार्य करें, उतना ही यज्ञ सर्वांग-सम्पन्न होगा। यहाँ तक ब्रह्म-यज्ञ की पद्धति और उसके प्रसंग में सामान्य यज्ञ-पद्धति के विषय में कहकर ब्रह्म-यज्ञ की उपक्रमणिका आरम्भ करते हैं।

अथोपक्रमणिका

मनुष्यों के कल्याण के लिए ऋषियों ने जो पाँच यज्ञ बताये हैं, उनमें से एक सन्ध्या है। सन्ध्या की ऋषियों ने बड़ी महिमा कही है। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि जो सायं-प्रातः—दोनों समय सन्ध्या नहीं करता, वह शूद्रवत् है। जब से ऋषि दयानन्द ने इन पाँच यज्ञों का पुनरुद्धार किया है, तब से अनेक भक्त लोग इन पाँच यज्ञों के करने का यत्न करने लगे हैं। उनके मार्ग में जो बाधाएँ आती हैं, उन्हें दूर करने के लिए ही यह पुस्तक लिखी जा रही है।

मन न लगना

सन्ध्या करनेवालों की सबसे बड़ी कठिनाई यही होती है कि वे धर्म में श्रद्धावश आँख मूँदकर ध्यान लगाने तो बैठ जाते हैं, परन्तु ध्यान तो न जाने किन-किन विकल्पों में उलझा फिरता है। सन्ध्या शब्द का अर्थ ही है 'अच्छी प्रकार एकाग्र होकर ध्यान'। किन्तु जब वही सिद्ध नहीं होता, तो सन्ध्या एक निरर्थक रीति का निर्वाह-मात्र रह जाती है।

इसका कारण यह है कि सन्ध्या की पुस्तक यह समझकर लिखी गई है कि सन्ध्या करने से पहले जिस साधना की आवश्यकता है, वह साधक पहले कर आया है। किन्तु वस्तुतः जो लोग सन्ध्या की पुस्तक उठाकर पढ़ते हैं और सन्ध्या करने का यत्न करते हैं, उनमें कदाचित् सहस्रों में एक ने ही साधना की होती है। प्राचीनकाल में वह साधना प्रत्येक बालक के जन्म से पहले ही प्रारम्भ हो जाती थी। इसलिए सन्ध्या-विधि लिखनेवालों ने वह विधि कहीं सन्ध्या की पुस्तक में नहीं लिखी। परन्तु वर्तमान युग में, जब अपनी सब ही प्राचीन मर्यादा अस्तव्यस्त हो चुकी है, हमें यह विधि भी लिखने की आवश्यकता है। इसलिए उस साधना को शास्त्र से संग्रह करके लिखते हैं।

शिवसंकल्प-साधना

उस साधना का नाम शिव-संकल्प की साधना है। प्रश्न उठ सकता है कि सन्ध्या से पहले इस साधना की आवश्यकता है, यह तुम्हारी कपोल-कल्पना है अथवा इसमें कोई शास्त्र-प्रमाण भी है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हम मनु महाराज का यह प्रमाण उद्धृत करते हैं—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥—मनु० २।३

और सच पूछिये तो मनु ने क्यों, स्वयं वेद हो ने क्या शिवसंकल्प की महिमा कम गाई है ? यजुर्वेद के ३४वें अध्याय में पूरे छह मन्त्र शिव-संकल्प की महिमा गाते हुए कहते हैं—**येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।** सप्तहोता यज्ञ क्या है, इसकी व्याख्या शतपथ में देखनी चाहिये । किन्तु हमें तो यहाँ केवल इतना दिखाना है कि मन को यज्ञानुवर्ती बनाने के लिए मन को शिवसंकल्पी बनाना सबसे बड़ा साधन बताया है । इसलिए उचित है कि हम पहले तो इस शब्द का ठीक-ठीक अर्थ क्या है, यह जानें; फिर उसका यज्ञों से क्या सम्बन्ध है, यह समझें ।

संकल्प

संकल्प शब्द 'सम्'-पूर्वक 'क्लृपू सामर्थ्ये' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने से बना है । इसमें 'सम्' उपसर्ग, 'क्लृप्' धातु है और भाव-वाची 'घञ्' प्रत्यय है । 'सम्' का अर्थ है 'एक साथ' । जैसे 'संगच्छध्वम्' का अर्थ है 'एक साथ चलो', 'क्लृप्' का अर्थ है 'समर्थ' अर्थात् 'कार्योपयोगी बनना' । तो संकल्प का अर्थ हुआ—सब मान-सिक शक्तियों को एक केन्द्र में इकट्ठा करके कार्योपयोगी बनना । अथवा कर्त्रर्थक **अच्** करने से इस क्रिया को करनेवाला भाव भी संकल्प कहला सकता है ।

विकल्पों को संकल्प समझना भूल है

प्रायः लोग, हमारे हृदय में क्षण-क्षण में बदलनेवाली इच्छा की जो अनेक धाराएँ, अथवा ठीक कहें तो इच्छा के जो कण होते हैं, उन्हें संकल्प कहते हैं । वस्तुतः वे तो विकल्प हैं । संकल्प नाम बिखरे कणों का नहीं, किन्तु एक अविच्छिन्न धारा का है । हमारे हृदय में जो विचार-मात्र उठते हैं, वे संकल्प नहीं कहला सकते । फिर प्रश्न उठता है, संकल्प किस विचार-विशेष का नाम है ? संकल्प उस

विशेष दृढ़ इच्छा का नाम है, जिसके लिए किसी ने अपना सम्पूर्ण जीवन अथवा उसका एक मुख्य भाग अर्पण कर दिया हो। आज इस प्रकार के भावों का अभाव ही सन्ध्या में हमारे चित्त न लगने का कारण है। वर्तमान युग का सबसे बड़ा रोग यह संकल्प-हीनता है। यह नहीं कि हमारे संकल्प अशिव हैं; किन्तु न हमारे संकल्प शिव हैं, न अशिव। हम लोगों के चित्त संकल्पहीन हैं। इसलिए ब्रह्मयज्ञादि किसी यज्ञ में भी हमारा चित्त नहीं लगता। अब हम संक्षेप से यह दिखाते हैं कि संकल्प किस प्रकार सम्पूर्ण वर्णाश्रम-मर्यादा का मूल है।

संकल्प और ब्रह्मचर्य

योगदर्शन के व्यास-भाष्य में ब्रह्मचर्य का लक्षण इस प्रकार किया है—**ब्रह्मचर्य्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः**। अब देखने की बात बात है कि यह अर्थ यहाँ किस प्रकार हुआ? न तो ब्रह्म का अर्थ उपस्थेन्द्रिय है, जो कि दुर्जयतम होने के कारण सब इन्द्रियों का उपलक्षणभूत होकर यहाँ आया है, और न 'चर' का अर्थ है 'संयम'। ब्रह्मचर्य शब्द का सीधा अर्थ देखें तो ईश्वर-भक्ति अथवा ईश्वर-प्रणिधान है। 'ब्रह्म' का अर्थ है 'ईश्वर' अथवा 'वेद', दूसरी ओर 'चर' का अर्थ है 'विचरना'। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ 'ब्रह्मणि चरणम्' अर्थात् 'ब्रह्म में विचरना' हुआ। फिर इसका अर्थ इन्द्रिय-संयम कैसे हुआ, यह एक पहेली है, जिसे समझना हमारा कर्त्तव्य है। सच पूछिये तो ब्रह्मचर्य शब्द की यही विलक्षणता है। इन्द्रियसंयम का सबसे बड़ा साधन क्या है, यह इसी शब्द में रक्खा है।

चित्तवृत्तियों की धारा का प्रवाह जल-धारा के समान है। यदि कोई मनुष्य बहती हुई जलधारा को बाँधकर रोकना चाहे, तो वह उसकी भूल है। बाँध द्वारा जल-प्रवाह को स्थायी रूप से रोकना असम्भव काम है। कुछ क्षण में जलधारा बाँध के पृष्ठ तक आकर बह निकलती है। इसीलिए चतुर लोग जब किसी जलप्रवाह को रोकना

चाहते हैं, तो उसके बहने के लिए एक दिशा निश्चित करके उधर एक नाली खोद देते हैं। इससे प्रथम तो जलप्रवाह स्वयं ही उधर चला जाता है और अनिष्ट दिशा में नहीं जाता, और यदि जाने भी लगे तो उस समय बाँध बाँधना काम देता है। इसी प्रकार मनोवृत्तियों की धारा को इन्द्रिय-चर्या से बचाने का मुख्य साधन यह है कि उसे ब्रह्माभिमुख कर दिया जाय। यदि फिर भी मन गड़बड़ करने लगे, तो उस समय प्राणायामादि बाह्य साधन भी सहायक हो सकते हैं। इसी बात को गीता में इस प्रकार कहा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म्मसमाधिना॥

—गीता ४।२४

अर्थात् हम अभागे लोग हैं जो इन्द्रियादि हवियों को ब्रह्म के निमित्त अर्पण न करके स्त्री, पुत्र, रूप, रसादि भोगों के अर्पण कर देते हैं। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्म की हवि को ब्रह्म के निमित्त अर्पण करते हैं, और इस प्रकार इस ब्रह्मकर्मसमाधि, अर्थात् ब्रह्म और कर्म के समुच्चय, अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं। प्रश्न उठता है कि इन्हें इस विद्या का ज्ञान कैसे होता है? तो इसका उत्तर है—ब्रह्मणा हुतम्—अर्थात् वेद द्वारा, वेदोदित मार्ग से किया हुआ हवन ब्रह्मप्राप्ति का साधन है। यही बात "कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्" (गीता ३।१५) श्लोक में और स्पष्ट कर दी गई है। इस प्रकरण की अद्वैतवादियों ने जो दुर्दशा की है, उसे देखकर रोएँ वा हँसें, यह समझ नहीं आता।

अब प्रश्न है कि इस ब्रह्मचर्य-रूप यज्ञ का वेद ने क्या मार्ग बताया है? तो इसका उत्तर है शिव-संकल्प। शिव-संकल्प द्वारा ही भक्ति, और उसके द्वारा ही शक्ति उत्पन्न होती है। अब प्रश्न है कि शिव-संकल्प ब्रह्मचर्य्य में सहायक किस प्रकार है? इसका निरूपण श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार किया है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।। —७।१६

अर्थात् हे अर्जुन ! चार प्रकार के सुकृती अर्थात् भाग्यशाली लोग परमेश्वर का भजन करते हैं—दुःखी, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। ध्यान देने की बात है कि इनमें सबसे पहला नाम दुःखी का लिया गया है। इसका बड़ा पुष्ट कारण यह है कि संसार में प्रभु के स्मरण का सबसे स्वाभाविक अवसर दुःख है। इसीलिए किसी भक्त ने कहा है—

दुख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय ।
जो सुख में सुमिरन करें, दुख काहे को होय ।।

सबसे अधिक संख्या में लोग प्रभु का स्मरण दुःख में करते हैं। हम इस घटना से लाभ उठाना चाहते हैं। इस घटना से लाभ उठाने का मार्ग यह है कि दुःख यदि सदा नहीं आता तो हम उसे बुला लें। प्रश्न उठता है कि क्या दुःख भी बुलाया जा सकता है? हाँ, निस्सन्देह। यदि तुम्हें स्वयं दुःख नहीं है, तो पड़ोसी का दुःख मोल ले लो।

इसी पर-दुःख-प्रवेश का नाम 'वर्णव्यवस्था' है। मानवसृष्टि के दुःखों को शारीरिक सेवा द्वारा दूर करने का बीड़ा उठानेवाले का नाम शूद्र, धन द्वारा दूर करने का संकल्प करनेवाले का नाम वैश्य, बाहु-बल तथा प्राणाहुति द्वारा दूर करनेवाले का नाम क्षत्रिय तथा विद्या, तप और त्याग द्वारा दूर करनेवाले का नाम ब्राह्मण है। इस प्रकार हमने देख लिया कि प्राचीन पद्धति में, संसार में आने से पहले बालक के लिए कुलमर्यादा-रूप संकल्प उपस्थित रहता था। इस संकल्प के भार को पूरा करने के लिए बालक अपनी निस्सहायता का अनुभव करता था। यह निस्सहायता का अनुभव ही आध्यात्मिक भूख है। निस्सहाय और परिमित तो हम सब हैं। किन्तु प्रमाद, आलस्य और अभिमान के वश में होकर हम उस निस्सहायता का इसी प्रकार

अनुभव नहीं करते, जिस प्रकार व्यायाम न करने से हम भूख का अनुभव नहीं करते। यह निस्सहायता का अनुभव आध्यात्मिक भूख (Spiritual appetite) के नाम से पुकारा जा सकता है। यदि इस दृष्टान्त को थोड़ा और आगे खींचें, तो संकल्प का अध्यात्म-क्षेत्र में वही स्थान है, जो शरीर में व्यायाम का है। संकल्प के निरन्तर स्मरण से आध्यात्मिक भूख ऐसे ही चमक उठती है, जैसे व्यायाम से शरीर की भूख। फिर वही रोज के जपे मन्त्र ऐसे प्यारे लगते हैं, जैसे भूखे को रोटी। इसके विपरीत संकल्प का अभ्यास न करनेवाले को भजन में प्रवृत्त कराने के लिए प्रतिदिन तरह-तरह के रोचक व्याख्यान चाहियें। दुःख यह है कि फिर भी भूख नहीं चमकती, जब तक दुःख, रोग की तरह आकर घोर चोट नहीं लगाता।

यही वर्णव्यवस्था का लाभ है। यदि कोई बालक अपने कुल-संकल्प से ऊँचा उठने का संकल्प करे तो अहोभाग्य, परन्तु उसे कम-से-कम नीचे तो न जाना चाहिए। जो लोग जात-पाँत तोड़ने तक अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं, वे इसका रस क्या जानें? अव्यवस्था दुर्व्यवस्था से कदाचित् अच्छी कही जा सके, परन्तु सुव्यवस्था का सौन्दर्य उसमें कहाँ? जब से हम संकल्प की महिमा को भूले, तब से हमें सन्तान, विनोद-साधन अथवा गले का भार-मात्र दीखने लगा है।

आपने देखा कि ब्रह्मचर्य अर्थात् प्रभु-भजन, बिना संकल्प के नहीं हो सकता। अब यदि संसार-भर के महापुरुषों को देखें तो उनमें इने-गिनों को छोड़कर सब ईश्वर-भक्ति के सहारे बड़े हुए हैं। जो ईश्वर-भक्ति के सहारे नहीं बढ़े, वे भी ईश्वरभक्त के सहारे बढ़े हैं। परन्तु साथ ही एक बात और है कि महापुरुष का अर्थ ही है—'किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति करनेवाला'। इससे पता लगा कि उनकी भक्ति का साधन 'संकल्प' होता है। तीसरी बात यह है कि जहाँ दृढ़ संकल्प और भक्ति आते हैं, वहाँ इन्द्रिय-संयम स्वयं ही आ जाता है। संसार में शायद ही कोई ऐसा महापुरुष दिखाया जा सके, जो अपने अभ्युदय-

काल में संयमी न रहा हो। ऐसे महापुरुष तो दिखाए जा सकते हैं, जो शक्ति-संचय कर लेने के पीछे योग-भ्रष्ट हो गये हों और विषयों में लिप्त हो गए हों, परन्तु बुद्धिमान् जानते हैं कि उसमें ही वे अपने अधःपतन का बीज बो गए। तदपि शक्ति-संचय-काल में वे संयमी ही रहे हैं। इस प्रकार हम तीन वस्तुओं को साथ-साथ चलते देखते हैं—ईश्वर-भजन, शिव-संकल्प और इन्द्रिय-संयम।

संकल्प और वर्णव्यवस्था

आपने देखा कि शिवसंकल्प वह नाली है, जिसके द्वारा प्रबल वेग से विषयों की ओर बहती हुई मनोवृत्ति की धारा को हम ब्रह्म नामक आनन्द के महासागर में डाल सकते हैं। यही संकल्प और ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध है। इसलिए जो सन्ध्या सीखना चाहें, उन्हें सबसे पहले शिव-संकल्प की अग्नि जलानी चाहिए। यदि दौर्भाग्य से वर्णव्यवस्था के लोप हो जाने से वह तुम्हें दायभाग (विरासत) में नहीं मिली, तो मत घबराओ। स्वयं सम्पत्ति पैदा करो और आनेवाली सन्तान का मार्ग सुगम बनाओ। इसी संकल्प को प्राचीन लोग ब्रह्म-दाय, क्षत्र-दाय और वैश्य-दाय कहते थे। ब्राह्मण स्नातक का वर्णन करते हुए मनु कहते हैं—

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा॥

'अपने धर्म के अनुसार ब्रह्मदाय लेनेवाले उस स्नातक को शय्या पर बैठाकर पिता उसका सबसे पहले गोदान से सत्कार करे।'

हाय! आज तो हम स्नातक कहलाकर भी न 'ब्रह्मदाय' लेते हैं और न कदाचित् आनेवाली सन्तानों के लिए भी पैदा करते हैं। हमने उस विद्या के भण्डार दयानन्द की बातों का मर्म क्या जाना?—कुछ नहीं। आशा है कि मेरे जिन स्नातक भाइयों के हाथ में पुस्तक पड़े, वे अपना कर्त्तव्य समझेंगे।

संकल्प और गृहस्थ

आप लोगों ने संकल्प और ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध देख लिया। अब संकल्प और गृहस्थ का सम्बन्ध तो स्पष्ट ही है। विवाह सवर्ण के साथ उचित है, अन्यथा दुःखदायी होता है; और वर्ण का निश्चय उस संकल्प के निरन्तर अभ्यास से होता है, जो ब्रह्मचारी ने गुरुकुल में धारण किया हो। फलतः गृहस्थाश्रम का संकल्प के साथ सम्बन्ध सुतरां स्पष्ट है। आज लोग विवाह के वर्षों पीछे जीवन का संकल्प निश्चय करते हैं। इससे प्रायः वर्णसङ्कर होता है और गृहस्थ नरक बन जाता है। इसीलिये तो कृष्ण कहते हैं—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। —गीता १।४२

अर्थात् वर्णसङ्कर नरक का देनेवाला है। इस श्लोक का आशय न जानकर सनातनधर्मी परलोक में नरक ढूँढते रहते हैं। परन्तु यहाँ जो नरक बनता है, उसकी इन भोले लोगों को कुछ भी चिन्ता नहीं।

इस प्रकार हमने सम्पूर्ण वर्णाश्रम-मर्यादा के मूलाधार, सब यज्ञों के उत्पत्ति-स्थान 'संकल्प' की महिमा संक्षेप से दिखा दी। वानप्रस्थ और संन्यास में भी संकल्प का सम्बन्ध दिखाया जा सकता है, परन्तु दिग्दर्शनमात्र पर्याप्त समझकर हम उसे छोड़ देते हैं।

भजन क्यों करें ?

यद्यपि यह प्रश्न सबसे पहले उठना चाहिए था कि भजन क्यों करें ? किन्तु इसे भी सन्ध्या का एक विघ्न समझकर इसी प्रसंग में वर्णन करते हैं। इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि हम यहाँ ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करनेवालों को उत्तर नहीं दे रहे। वह तो उस विषय के ग्रन्थों में देखना चाहिये। यहाँ तो हम केवल उनको उत्तर देते हैं, जो पूछते हैं कि मान लिया ईश्वर है, और वह पुण्यापुण्य का सुख-दुःखरूप में फल देनेवाला है, तो हमें उत्तम कर्म

करने चाहिएँ, वह कुछ खुशामद से प्रसन्न होकर हमें छोड़ तो देगा नहीं। फिर हम भजन और उसके गुणों का कीर्तन क्यों करें ?

स्वभाव है

इसका पहला उत्तर तो यह है कि यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह उत्तम गुण-युक्त पदार्थ को देख मौन नहीं रह सकता। क्या हम प्रतिदिन नहीं देखते कि एक युवक-मण्डली किसी सुन्दर उद्यान में जाकर एक सुन्दर फूल देखती है, तो हठात् सबके मुख से निकल पड़ता है—'वाह-वाह ! क्या सुन्दर फूल है ! वाह रे फूल !' यदि उनके मित्रों में से कोई अनमना होने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से उधर नहीं देखता, तो सब उसे पकड़कर कहते हैं—'अरे देख कमबख्त ! देखता क्यों नहीं ?' फिर यदि देखकर वह उनकी तरह दीवाना नहीं हो जाता, तो सब कहते हैं—'अरे तू तो निरा ठूँठ है। संसार में आकर तेरा जन्म निष्फल हो गया।' फिर भला जिसने उस सौन्दर्य के महासागर में हिलोरें खाई हों, जिसकी छींटों पर संसार इतना मुग्ध होता है, वह कैसे चुप रह सकता है ? जिस प्रकार रसिक-मण्डली के लोग कहते हैं कि जिसने इस फूल के दर्शन का आनन्द नहीं लूटा, उसका जन्म निरर्थक है, उसी प्रकार भक्त भी कहता है कि वाह ! जिसने भजन का आनन्द न लूटा, उसका जन्म निरर्थक है। जिस प्रकार एक साधारण फूल की सुन्दरता के अनुभव से एक मनुष्य अपने अन्दर एक प्रकार की उच्चता अनुभव करता है और अपना अधिकार समझता है कि दूसरों को ठूँठ, कमबख्त आदि शब्दों से याद करे, उसी प्रकार उस अनन्त सुन्दर के सौन्दर्य का साक्षात्कार करनेवाला भी उसकी अपेक्षा सहस्रगुणा वेग से यही अनुभव करता है। हाँ, वह अधिक उच्चस्थिति पर होने के कारण इस सुख से वञ्चित लोगों को 'भोले', 'भूले हुए' आदि कोमल शब्दों से याद करता है और कभी-कभी घोर अनीति देखकर झुँझला भी उठता

है। परन्तु ईश्वर-स्तुति का यह कारण ऐसा है, जिसका अनुभव वही करते हैं जिन्हें कारण पूछने की आवश्यकता नहीं रहती—जो साक्षात्कार कर चुकते हैं। प्रश्न यह है कि साधक लोग भजन क्यों करें ?

कृतपापों के संस्कारों तथा अनागत पापों की निवृत्ति के लिए

मनुष्य अच्छा या बुरा जो काम करता है, उसका संस्कार उसके अन्तःकरण में अवश्य पड़ता है। वह धीरे-धीरे स्वभाव का रूप धारण कर लेता है। किन्तु निर्मल, शान्त, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप के चिन्तन से वे संस्कार धुलने लगते हैं, और वे जब ताज़े हों तो भली प्रकार धोए जा सकते हैं। वेदादि शास्त्रों में जहाँ कृतपाप की निवृत्ति का वर्णन किया गया है, वहाँ उस पाप के ईश्वर द्वारा दिये जानेवाले फल की निवृत्ति नहीं कही है। ध्यान रखना चाहिए वहाँ "पाप-निवृत्ति" लिखी है, "पाप-फल-निवृत्ति" नहीं। पाप-फल-निवृत्ति का मज़ेदार बाज़ार तो पुराणों में ही खुला है, अन्यत्र नहीं।

पाप-निवृत्ति का दूसरा अर्थ पाप से निवृत्ति अर्थात् मनुष्य के हृदय में जो पाप करने के लिए प्रवृत्ति उठे, उसकी निवृत्ति है। इसी के लिए योग-दर्शन में कहा गया है, 'हेयं दुःखमनागतम्'—मनुष्य को पाप से रोकने में भय भी एक बड़ा साधन है। पाप करनेवाले, एक छोटे-से बालक के भी अकस्मात् उपस्थित होने पर पसीना छोड़ने लगते हैं। वर्तमान युग के सुधारकाभास कितना चिल्लाते रहें किन्तु लोक-भय, राजभय आदि भय संसार को मर्यादा में रखने का साधन सदा रहे हैं और रहेंगे। वस्तुतः देखा जाय, तो संसार को मर्यादा में रखने का सबसे बड़ा साधन भय है, यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी। परन्तु भयों में सर्वोच्च भय प्रभु का भय है। परन्तु इस भय में इतना भेद है कि यह सदा प्रत्यक्षगोचर न होने से, तथा कालान्तर में फलदायक होने से, अभ्यास के बिना हृदय में स्थान नहीं पाता। 'प्रभु है' यह तो

प्रमाणसिद्ध है। हम अपने-आपको भयभीत करने के लिए उसकी कल्पित सत्ता स्थापित करते हैं—'प्रौढ़ लोगों का एक हौवा' बनाते हैं—यह बात नहीं। किन्तु उसकी तर्क-सिद्ध सत्ता का पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहते हैं। यद्यपि प्रभु है, तथापि 'वह है' इतना जान लेने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इस ज्ञान के निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है। बन्दूक में गोली भरकर लक्ष्य को सामने रखकर घोड़ा दबा देने से शत्रु मरता है, इतना जान लेने मात्र से शत्रु नहीं मरता। लक्ष्यवेध की विद्या, जानने में सुगम होने पर भी अभ्यास में बड़ी कठिन है। यही बात भजन की है। जिस प्रकार शत्रु की गोलियों की घमासान में, रणवाद्यों की गर्जना में, तोपों के भयंकर नाद में, उसका ही हाथ निश्चल होकर लक्ष्यवेध कर सकता है जिसने निरन्तर अभ्यास किया हो, इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोहादि शत्रु जिस समय अपनी सेना सजाकर आते हैं, उस समय वही वीर डटकर लोहा लेता है, जिसने जगदम्बा का पेट-भर दूध पिया हो और उसके रुद्र-रूप का भी निरन्तर ध्यान किया हो। यह बात वही लोग जानते हैं, जिन्होंने कभी यह युद्ध करके देखा है।

निर्भयता के लिए

जहाँ ईश्वर के भजन का यह फल होता है कि भक्त उस अन्तर्यामी, चराचर-साक्षी के रूद्र-रूप से भयभीत होकर पाप से निवृत्त होता है, वहाँ जरा-मरणादि बाह्य दुःखों से निर्भय भी हो जाता है। वह जानता है कि जो प्रभु पाप करने पर दण्ड देता है, वह धर्ममार्ग में चलने पर रक्षा भी पूरी करता है। जो लोग आज शक्तिहीन आर्य जाति को शक्तिमान् बनाना चाहते हैं, उन्हें यह पाठ कभी न भूलना चाहिए।

सादा जीवन, तप, ब्रह्मचर्य, प्रभु का भजन, वीर पुरुषों के जीवन-चरित्रों का बार-बार परिशीलन आदि वीरता के सच्चे उपायों को

छोड़कर जो पुरुष आज आर्य जाति के बालकों को मांस, मच्छी और अण्डे खाने का उपदेश दे रहे हैं, वे उनकी शक्तियों को उलटी राह पर डाल रहे हैं। इनसे बढ़कर आर्य जाति का शत्रु न कोई हुआ है और न होगा। इन मित्राभास शत्रुओं से इस जाति को परमेश्वर ही बचाए! वीरता का अर्थ है निर्भयता, और निर्भयता का सबसे बड़ा साधन है ईश्वर-प्रणिधान, अर्थात् धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, यहाँ तक कि प्राण भी उस प्रभु की धरोहर समझना और जब उसके कार्य के निमित्त आवश्यकता हो, तो हँसते-हँसते दे देना। यह बात निरन्तर अभ्यास के बिना नहीं हो सकती। इसलिए मनुष्य को पाप से डरने तथा मृत्यु से न डरने के लिए प्रभु का निरन्तर भजन करना चाहिए।

वैदिक सन्ध्या की विशेषता

परमेश्वर का भजन संस्कृत भाषा में ही हो सकता है तथा अन्य भाषा में नहीं; ईश्वर कहकर पुकारने से वह अधिक प्रसन्न होता है किन्तु सच्चे हृदय से अल्लाह कहने से वह नाराज होता है—यह समझना भूल है। फिर प्रश्न होता है कि ऋषि दयानन्द ने 'पञ्च-महायज्ञविधि' में जो सन्ध्या लिखी है, उसके ही द्वारा भजन क्यों किया जाय? इसका उत्तर यह है कि ध्यान करने के समय जो विघ्न उपस्थित होते हैं, ध्यान करनेवाले को जिन-जिन भूमिकाओं में से गुज़रना पड़ता है, ध्यान के लिए जो योग के आठ अङ्ग कहे गये हैं, उन सबका ऐसा सुसंगत समावेश, इससे अधिक मार्मिक तथा भावगर्भ शब्दों में अन्यत्र नहीं मिलता। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि अन्य मार्ग से भजन नहीं हो सकता। एक मनुष्य के शरीर के लिए किस-किस प्रकार का भोजन अपेक्षित है, इसका वैज्ञानिक रीति से विचार करके चतुर वैद्य जो भोजन-पत्र तैयार करते हैं, उसके अनुसार एक व्यायामशील मनुष्य का शरीर अति वेग से उन्नति करता है। परन्तु यदि मनुष्य व्यायामशील हो और साधारण भोजन

भी करे तो उसमें भी पर्याप्त पुष्टिकारक पदार्थ निकाल लेता है। लोग किसी भी देश, काल अथवा भाषा में भजन करें, उनकी आत्मा बलवान् होकर न केवल अपने, अपितु अपने भाइयों के भी दुःख-निवारण में समर्थ होती है। परन्तु वही पद्धति शीघ्र फल-दायिनी होती है जो ठीक क्रम से बनाई गई हो। सन्ध्या के इन मन्त्रों में कौन-सी मार्मिक शृङ्खला है, कौन-से भावगर्भ शब्द हैं, यह हम आगे चलकर दिखायेंगे। किन्तु वैदिक सन्ध्या के अतिरिक्त अन्य सब शब्द प्रभु के भजन के उपयोगी नहीं हैं, ऐसा संकुचित विचार आर्य लोगों का नहीं है। हाँ, इतना तो अवश्य है कि वह भजन किन्हीं शब्दों में हो, परन्तु हो परमेश्वर का। जो उसका भजन छोड़कर अन्य पदार्थों का भजन करेंगे, वे चाहे वेद पढ़ें, अथवा लौकिक वाक्य पढ़ें, अवश्य अन्धकार में प्रवेश करेंगे।

सन्ध्या और अष्टाङ्ग योग

योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें से हम सबसे पहले नियमों को लेते हैं—

नियम

शौच—सन्ध्या करनेवाले को मल त्यागकर, दन्तधावन तथा स्नान करके ध्यान में बैठना चाहिए। इनमें से जो अङ्ग जितना बाह्य है वह उतना ही गौण है, तथा जितना अन्तरङ्ग है उतना ही मुख्य है। निःसन्देह प्रबल ध्यानशक्तिवाला मनुष्य हर समय और हर अवस्था में ध्यान कर सकता है। तो भी, स्नान करने के पीछे चित्त में जो प्रसाद अनुभव होता है, ब्रह्म-ध्यान के लिए जो अनुकूलता होती है, वह अन्य समयों में नहीं होती, यह अनुभव-सिद्ध है।

इसका उत्तर भी ऊपर मिल गया है, शुचि-स्थान में।

सन्ध्या कहाँ करनी चाहिए

मनु महाराज कहते हैं—

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः ।

गीता में कृष्ण महाराज कहते हैं—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

अर्थात् नित्य-कर्म जल के समीप, पवित्र स्थान में करना चाहिए। यह नियम भी बाह्य होने से गौण है। यदि किसी को नदी का किनारा न मिले, तो बाग़ का कुआँ ही सही। वह न मिले तो जो स्वच्छ-से-स्वच्छ स्थान उसको उपलब्ध हो सके, वहाँ करे। यह नहीं कि नदी-तट न हो, तो सन्ध्या ही छोड़ बैठे।

सन्तोष, तप, स्वाध्याय आदि नियमों का मूल्य भी इसी प्रकार समझना चाहिये। जो तपस्वी न हो, तो आलस्य-वश सन्ध्या छोड़ बैठेगा। लोभी होगा तो 'दो पैसे और' की चिन्ता में सन्ध्या छोड़ देगा, इत्यादि। परन्तु इसका विशेष विस्तार करने से ग्रन्थ का कलेवर बहुत बढ़ जायगा, इसलिए यहाँ उनका वर्णन नहीं करते। ईश्वर-प्रणिधान के विषय में विस्तार की आवश्यकता थी, सो तो हमने आरम्भ में ही कर दिया है।

नियमों के पश्चात् अब यमों को लीजिये—

अहिंसा—'मनसापरिक्रमा' के मन्त्र **अहिंसा** के अभ्यास के लिए हैं। 'उपस्थान-मन्त्र' **सत्य** के अभ्यास के लिए हैं, 'तथा तच्चक्षुर्देवहितम्' यह मन्त्र **ब्रह्मचर्य** की महिमा गा रहा है।

प्राणायाम तथा धारणा—'ओम् भूः पुनातु शिरसि' से आरम्भ करके 'खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र' तक मन्त्रों में "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" इस **धारणा** नामक अङ्ग का समावेश है। इसका विवेचन इन मन्त्रों की व्याख्या के समय करेंगे।

आसन—योगदर्शन में कहा है—'स्थिरसुखम् आसनम्।' प्रश्न उठता है कि पद्मासनादि अनेक आसनों का उपयोग क्या है? सो

इसका तात्पर्य यह है कि आसन समय-समय पर अनेक विघ्नों को दूर करते हैं, जैसे पद्मासन निद्रा को दूर करता है। परन्तु साधारण अवस्था में सुखासन ही श्रेष्ठ आसन है क्योंकि अन्य आसनों के कष्ट-साध्य होने के कारण उनमें चित्त-वृत्ति की एकाग्रता नष्ट होती है। निद्रा का विघ्न उपस्थित होने पर अँगूठे पकड़कर पद्मासन लगाने से निद्रा दूर होती है। परन्तु जो औषध रोग में सहायक है, उसे स्वस्थ मनुष्य का भोजन नहीं बनाया जा सकता। इसीलिए जो लोग आसन में ही योग की 'इतिश्री' समझते हैं, वे भूल करते हैं।

समाधि—इन्हीं अंगों के निरन्तर अभ्यास से समाधि की प्राप्ति होती है, इसलिए उसका विशेष वर्णन नहीं करते। वह योगदर्शन में देखना चाहिये। **'प्रत्याहार'** और **'ध्यान'** समाधि में ही आ गए। इसलिए उसका भी वर्णन नहीं करते।

इस प्रकार अष्टाङ्ग-योग का सन्ध्या में दिग्दर्शन कराके सन्ध्या के काल का निर्णय करते हैं।

सन्ध्या कब करें ?

प्रश्न उठ सकता है कि क्या ऐसे पवित्र कर्म के लिए भी समय पूछना पड़ता है ? तो इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो यह भी भूल है कि सदा ईश्वर का ध्यान करते रहना धर्म है। यदि मनुष्य चौबीस घण्टे ईश्वर-ईश्वर चिल्लाता रहे, तब तो वह सन्ध्या का उद्देश्य ही नष्ट कर देता है। सन्ध्या का उद्देश्य है कार्य-शक्ति को बढ़ाना, किन्तु जो शक्ति बढ़ाता ही रहे, उसका उपयोग कभी न करे, उसकी शक्ति भी नहीं बढ़ती। भोजन का उद्देश्य शरीर की शक्ति बढ़ाना है। किन्तु यदि कोई मनुष्य सम्पूर्ण दिवस भोजन ही करता रहे, तो उसकी शक्ति बढ़ने के स्थान में घटेगी। इस बात को हम दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। एक मनुष्य के तीन पुत्र हैं। उसने तीनों को पाँच-पाँच सौ रुपये दिये कि इनका सदुपयोग करो, मैं और दूँगा। वे तीनों घर से

निकले। एक ने पाँच सौ रुपये रख दिये और दिन-रात 'पिता-पिता' करने लगा। दूसरा व्यापार तो करने लगा, किन्तु पिता को भूल गया; और तीसरा नियत समय पर प्रतिदिन पिता का भी स्मरण करता और नियत समय पर व्यापार भी करता था। प्रथम पुत्र अपनी पूँजी रोज़ खाता और पिता-पिता करता था। अन्त में जब १०० रु० रह गये, तो पिता के पास आया। पिता ने पूछा—पहले ५०० रु० कहाँ हैं? तो कहने लगा—खा गया। पिता ने वे १०० रु० भी छीन लिये। दूसरा पुत्र भी कुछ दिन तक व्यापार करता रहा, किन्तु एक दिन जुआरियों की संगति में पड़कर सब गँवा बैठा। फिर वह पिता के पास आ खड़ा हुआ। पिता ने और दण्ड देकर विदा किया।

तीसरे पुत्र ने पिता के सामने ५०० के १००० रु० बनाकर दिखाए पिता ने प्रसन्न होकर १००० और दिये। यही हमारा हाल है। प्रभु ने हमें हाथ, पैर, आँख, कान, और इन सबसे बढ़कर बुद्धि का धन दिया है। किन्तु जो इसका उपयोग न करके सारे दिन राम-राम चिल्लाते हैं, वे महामूर्ख हैं। दूसरी ओर जो मनुष्य केवल इनके उपयोग में लगे रहते हैं, वे प्रभु की सत्ता को भूलकर अनेक दुर्व्यसनों में फँसकर एक बार में सब गँवा बैठते हैं। किन्तु जो इन शक्तियों के सदुपयोग के साथ-साथ उसका स्मरण भी करते हैं, उनका सदुपयोग स्थिर बना रहता है और वे दिन-दिन अधिक शक्ति पाने के अधिकारी होते हैं।

इसीलिए कृष्ण महाराज ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

—गीता ६।१७

'जो मनुष्य भोजन, व्यवहार, भजन, उठना आदि कर्म सब नियम से करता है, उसी के लिए योग दुःख दूर करनेवाला है।' इसलिए भजन की भी मर्यादा आवश्यक है।

मनु महाराज मर्यादा करते हैं—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्री मार्कदर्शनात् ।
पश्चिमान्तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥—२।१०१

'प्रातःकाल की सन्ध्या में सूर्य-दर्शन होने तक गायत्री का जप करे। सायंकाल को भली प्रकार तारा-दशन तक सन्ध्या करे।'

सन्ध्या-यज्ञ की क्रियाओं का क्रम

वैदिक सन्ध्या का आरम्भ चित्त-समाधान से होता है। इसके लिए आचमन किया जाता है। फिर शान्त तथा समाहित चित्त से आत्मपरीक्षण होता है। आत्म-परीक्षण के पीछे आत्म-मार्जन है। फिर आत्म-प्रोत्साहन है। यहाँ तक के कर्म पवित्र व्रताभ्यास के लिए चित्त की उचित तैयारी करने के निमित्त हैं। फिर मनसापरिक्रमा के मन्त्रों से अहिंसा-**व्रत** का धारण होता है। फिर 'उद्वयं' से लेकर 'चित्रं देवानां' तक तीन मन्त्रों से **सत्य-व्रत** की महिमा बताई है। फिर 'तच्चक्षुः' इस मन्त्र में **ब्रह्मचर्य-व्रत,** फिर गायत्री में **ईश्वरप्रणिधान** और फिर 'नमः शम्भवाय च' इस मन्त्र में 'शम्' के साथ इस यज्ञ की समाप्ति होती है। इस प्रकार इसमें चित्तसमाधान, आत्म-परीक्षण, आत्म-मार्जन, आत्म-प्रोत्साहन, व्रत-धारण, ईश्वरार्पण तथा उप-संहार, ये सात अंग हैं। इसकी विशेष व्याख्या क्रमशः अपने-अपने स्थान पर हो जायगी।

अथ ब्रह्मयज्ञः

तत्राचमनम्

ओ३म् । शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये ।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥

अर्थ—वह (आपः) सब कामनाओं को प्राप्त करानेवाली (देवीः) दिव्य प्रभुशक्ति (नः) हम सबके लिए (अभीष्टये) अभीष्ट सिद्धि के लिए और (पीतये) परम रस का पान करने के लिए (शम्) शान्ति-दायक (भवन्तु) होवें और (शंयोः) सुख को (अभिस्रवन्तु) बरसाये।

सन्ध्या-यज्ञ में सबसे पहला मन्त्र आचमन-मन्त्र है। जल का आचमन इस मन्त्र से किया जाता है। मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का आरम्भ भी शान्ति से है और समाप्ति भी शान्ति पर है। जिस उद्योग से अन्त में परम शान्ति का लाभ न हो, वह व्यर्थ है। और जो उद्योग शान्त तथा समाहित चित्त में उपायापाय का निर्णय किये बिना किया जाय, वह कभी सफल नहीं हो सकता। इसलिए इस आध्यात्मिक उद्योग—ब्रह्मयज्ञ—का आरम्भ भी 'शम् नो' (देवीः) से हुआ है और समाप्ति भी 'नमः शम्' (भवाय) से हुई है। इस शान्ति की प्रार्थना को जीता-जागता रूप देने के लिए वही पदार्थ लिया गया है, जो स्थूल जगत् में शान्ति का सबसे सुलभ साधन है। मानो मनुष्य अपने-आपसे कह रहा है कि जिस प्रकार यह जल शरीर

के मलों को दूर करता है और शान्ति पहुँचाता है, ठीक इसी प्रकार मुझे इस समय शान्तचित्त होकर आध्यात्मिक चिन्तन में लगना चाहिए। जिस प्रकार उत्तम सङ्गीत-समाज में जो गाना कण्ठ से गाया जाता है, वही वाद्य में बजाने से एक चमत्कार उत्पन्न करता है, उसी प्रकार यहाँ भी जो शान्ति का राग अब अध्यात्म-जगत् में आलापा जाने वाला है, वही शरीर की वीणा में बजाया जाता है। जिस प्रकार शिर के अन्दर की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करना है, उसी प्रकार शिर के बाहर बिखरी हुई शिखा का भी बन्धन होना है। ये क्रियाएँ अलङ्कार-मात्र हैं। इसीलिए यदि कारणवश कोई इन्हें न कर सके, जल न मिले अथवा शिखा-स्थान ही खल्वाट हो, तो इससे सन्ध्या में कोई व्याघात नहीं होता। हाँ, इन क्रियाओं के होने से चमत्कार अवश्य उत्पन्न होता है। परन्तु अलङ्कार के पीछे देह को न गँवाना चाहिए। यह बात केवल कल्पनामात्र नहीं है।

आचमन का फल

शतपथ ब्राह्मण का आरम्भ ही इस आचमन-क्रिया की व्याख्या से होता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उपस्पर्शन अर्थात् आचमन क्यों किया जाता है? इसका उत्तर देते हैं—**तेन हि पूतिरन्तरतः मेध्या ह वै आपः मेध्यो भूत्वा व्रतमुपयानि।**—जल शान्त तथा पवित्र है, 'मेधा के लिए हितकर है, मैं भी मेध्य अर्थात् मेधा-व्यापारानुकूल अवस्था में होकर बैठूँ, इसीलिए जल से आचमन किया जाता है।'

अब मन्त्र को लीजिये। मर्मानभिज्ञ व्याख्याकारों ने इसका आचमन में विनियोग देखकर इसकी व्याख्या भी जलपरक ही कर दी। किन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि वेद ने स्वयं कहा है—**ता आपः स प्रजापतिः** (यजु:० ३२) 'आपः' नाम उसी प्रभु का भी है। वह सब शान्ति-कामना करनेवालों की कामनाओं का आपयिता—प्राप्त करनेवाला—है। वह गुण जल में होने से जल को भी 'आपः'

कहते हैं। अब अध्यात्म-प्रकरण में, ब्रह्मयज्ञ के प्रसङ्ग में, इसका अर्थ जल करना कोरी मूर्खता है। हाँ, जिस शान्ति-गुण की कामना करनी है, वह जल में होने से विनियोग की सुन्दरता का पता लगता है। परन्तु यह तभी होता है, जब मूल अर्थ को समझकर विनियोग उसके पीछे चलाया जाय। जो विनियोग के पीछे मूल को चलाते हैं, वे वस्त्र के पीछे शरीर को चलाते हैं। वे शरीर के स्थूल होने पर वस्त्र को ढीला नहीं करते, किन्तु वस्त्र तङ्ग होने पर शरीर को छीलते हैं। प्रभु ऐसे लोगों से वेद की रक्षा करें।

जो सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त करानेवाली है, जिसकी वात्सल्य-धारा नदी-नालों में ही नहीं अपितु पत्ते-पत्ते में से टपक रही है, आज इस अध्यात्मयज्ञ के समय सबसे पहले मैं उस जगदम्बा की शरण में जाता हूँ। वह सब कामनाओं को प्राप्त करानेवाली देवी हम सबके लिए, केवल मेरे लिए नहीं, अभीष्ट-सिद्धि के लिए और परमरस का आस्वादन करने के लिए शान्तिदायक हो।

हमने भाषा में 'आपः' तथा 'भवन्तु' का अनुवाद एकवचन में किया है, क्योंकि भाषा में इस प्रकार का स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त शब्द इस अर्थ को दिखाने के लिए मिल नहीं सकता। यहाँ बहुवचन इसी-लिए है कि प्रभु केवल एक प्रकार की प्यास ही नहीं बुझाता। वह हमारी अनेक प्रकार की प्यासों का बुझानेवाला है। साथ ही एक शान्ति के प्रकरण में उस प्रभु को पुंल्लिङ्ग से स्मरण न कराके स्त्री-लिङ्ग से स्मरण कराने में परम कवि ने चमत्कार रखा है। उसका आनन्द वही ले सकते हैं जिन्होंने अलङ्कार-शास्त्र में प्रवेश किया है।

अथांगस्पर्शः

ओ३म् वाक् वाक्। ओ३म् प्राणः प्राणः। ओ३म् चक्षुः चक्षुः। ओ३म् श्रोत्रम् श्रोत्रम्। ओ३म् नाभिः। ओ३म् हृदयम्। ओ३म् कंठः। ओ३म् शिरः। ओ३म् बाहुभ्यां यशोबलम्। ओ३म् करतलकरपृष्ठे॥

अर्थ—प्रभु-कृपा से मेरी वाक् आदि इन्द्रियों में यश और बल प्राप्त होवे।

अब शान्त-चित्त होकर जिस प्रकार एक उत्तम दुकानदार प्रातः कार्य आरम्भ करने से पहले और सायंकाल को दूकान बन्द करते समय अपने हिसाब की पड़ताल करता है और देख लेता है कि मैं कहाँ-से-कहाँ तक पहुँचा हूँ, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह प्रातः और सायं अपनी दिव्य-सम्पत्ति की पड़ताल करे। वैदिक धर्म शरीर के मल-मूत्र का थैला होने की मुहारनी नहीं रटता। वैदिकधर्मी के लिए शरीर 'नरक का द्वार', 'दुःखों का पिटारा', 'असह्य जेलखाना' आदि नहीं है। उसके लिए यह देवपुरी है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानाम्पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

—अथर्व० १०।२।३१

'अर्थात् यह शरीर आठ चक्रों तथा नौ दरवाजोंवाली एक नगरी है। इसके राजा का कर्त्तव्य है कि काम, क्रोधादि शत्रुओं से इसे अयोध्या अर्थात् युद्ध में परास्त न होनेवाली बना दे, क्योंकि इसमें परम सुख की ओर ले-जानेवाला ज्ञानमय सुनहरी खज़ाना भरा पड़ा है।

वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि सब ही ज्ञानेन्द्रियाँ देव हैं, जो इस नगरी में बसते हैं। परन्तु इनकी पड़ताल कैसे की जाय, इसका स्पष्टीकरण **बाहुभ्यां यशोबलम्** इस वाक्य में आकर हुआ है। **यशोबलम्** में दो प्रकार से समास किया जा सकता है। एक तो **यशश्च बलश्च** यह समाहार द्वन्द्व, दूसरा 'यश एवं बलम्'। एक का अर्थ है 'यश और बल', दूसरे का अर्थ है 'यश-रूपी बल'। दोनों प्रकार के अर्थों में अपना-अपना चमत्कार है। हम देखें कि हर एक इन्द्रिय बलवान् है वा नहीं और हमारे यश का कारण है वा नहीं। दूसरी ओर 'यश-रूपी बल' अर्थ में भी अपना चमत्कार है। संसार में यश भी एक अद्भुत बल

है। दो बालक गली में खड़े हुए खेल खेल रहे हैं। एक दूसरे को 'चोर-चोर' कहकर पकड़ने भागता है। गली में एक सचमुच का चोर जा रहा है, वह भाग खड़ा होता है। बालक हँसी में अपने साथी को चोर कह रहा है, परन्तु चोर का शङ्कित मन उसे खड़ा नहीं होने देता। चोर के हृदय में अशान्ति की पराकाष्ठा है।

एक साधारण गृहस्थ को दूसरा आदमी चोर कहता है। वह उस समय कुछ नहीं कहता। न्यायालय में जाकर मान-हानि का दावा करता है। अनेक वकीलों द्वारा युद्ध करके विजयी होता है। तब कहीं थोड़ा-सा शान्ति-लाभ करता है।

तीसरी ओर एक महात्मा है। उसे भी एक क्षुद्राशय ने चोर कहा। महात्मा प्रशान्त मुद्रा से थोड़ा-सा मुस्करा दिया। वह जानता है कि उसके पास 'यशोबल' का अखूट भण्डार है। इसके फूँक मारने से वहाँ तरंग भी नहीं उठती। यहाँ शान्ति है—वह शान्ति है, जिसकी खोज में हमने यात्रा आरम्भ की है।

यह **यशोबलम्** ही इन वाक्यों का सार है। वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि, हृदय, कण्ठ, शिर, बाहु और हाथ, सबको इसी कसौटी पर परखना है। देवपुरी के इस देव में बल कितना है और इसने कोई अपयश का काम तो नहीं किया? देवत्व से पतित तो नहीं हुआ? यदि ज्योतिर्मय कोष को लूटनेवाला कोई शत्रु यहाँ नहीं घुसा, तो यही स्वर्ग है।

अब प्रश्न उठता है कि सबसे पहले वाक् को क्यों लिया गया? इसका उत्तर है कि हम अपने दैनिक व्यवहार में दूसरों के सम्बन्ध में जिस इन्द्रिय को सबसे अधिक काम में लाते हैं, वह वाक् है। साधक वाक् से आरम्भ करके नासिका, नेत्र, श्रोत्र से होता हुआ नाभि पर आता है। वहाँ से हृदय पर, हृदय से कण्ठ पर, कण्ठ से शिर पर, शिर से बाहु और बाहु से हाथ पर इस यात्रा को समाप्त करता है।

इसमें क्रम यह है कि 'वाक्' से 'कण्ठ' तक एक चक्र है—वाक्,

प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि, हृदय, कण्ठ। दूसरे अर्थों में मुख से आरम्भ करके, पीछे से होकर नाभि और फिर वहाँ से ऊपर की ओर उठते हुए कण्ठ अर्थात् वाणी तक आ गए। जो इस यशोबल के आवर्त (चक्र) को पूरा कर लेता है, उसका शिर यशोबल प्राप्त करता है और तब वह कर्म-क्षेत्र में, अर्थात् भुजा=हाथों से, यशोबल प्राप्त करने का अधिकारी होता है। परन्तु वस्तुतः यह **यशोबलम्** वाक्, प्राण आदि सबके साथ ही लगा समझना चाहिए।

यशोबलम् के पश्चात् **करतलकरपृष्ठे** यह वाक्य है। इसका अर्थ है कि जब कर्म-क्षेत्र में प्रवृत्त हो, तो हाथ की हथेली की ओर ही मत देखा कर, उसकी पीठ भी देख लिया कर। केवल यह जानने की चेष्टा मत कर कि तुझे तेरे कर्म कैसे दिखाई पड़ते हैं, यह भी जानने के लिए ज्ञानवान् बन कि दूसरों को तेरे कर्म कैसे दिखाई देते हैं। इस प्रकार सार यह हुआ—

ओं वाक्-वाक् (यशोबलम्), ओं प्राणः प्राणः (यशोबलम्), ओं चक्षुः चक्षुः (यशोबलम्), ओं श्रोत्रम् श्रोत्रम् (यशोबलम्), ओं नाभिः (यशोबलम्), ओं हृदयम् (यशोबलम्), ओं कण्ठः (यशोबलम्), ओं शिरः (यशोबलम्), ओं बाहुभ्यां (यशोबलम्), ओं करतलकरपृष्ठे।

अथ मार्जनम्

ओ३म् भूः पुनातु शिरसि। ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः। ओं स्वः पुनातु कण्ठे। ओं महः पुनातु हृदये। ओं जनः पुनातु नाभ्याम्। ओं तपः पुनातु पादयोः। ओं सत्यम्पुनातु पुनः शिरसि। ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र।

अर्थ—(भूः) सबका उद्भवस्थान प्रभु (शिरसि) सिर में (पुनातु) पवित्रता करे। (भुवः) उत्पत्ति का साधन प्रभु (नेत्रयोः) मेरे नेत्रों में (पुनातु) पवित्रता करे। (स्वः) सुख-स्वरूप प्रभु (कण्ठे) मेरे कण्ठ में

(पुनातु) पवित्रता करे। (महः) महान् प्रभु (हृदये) मेरे हृदय में (पुनातु) पवित्रता करे। (जनः) जनक प्रभु (नाभ्याम्) मेरी नाभि में (पुनातु) पवित्रता करे। (तपः) तपोमय भगवान् (पादयोः) मेरे पैरों में (पुनातु) पवित्रता करे। (सत्यं) सत्यशील प्रभु (पुनः) फिर (शिरसि) सिर में (पुनातु) पवित्रता करे। (खं) आकाश की तरह व्यापक (ब्रह्म) महान् प्रभु (सर्वत्र) मुझे सर्वत्र (पुनातु) पवित्र करे।

अब आगे मार्जन-मन्त्र आरम्भ होते हैं। मार्जन का अर्थ है साफ करना। जब पहले मन्त्रों द्वारा मनुष्य ने अपनी देव-सेना की परीक्षा की, अपनी बही का लेखा मिलाया, उसके पश्चात् जहाँ-जहाँ दोष दिखाई दिया, उसका मार्जन होना ही चाहिए। इसलिए इन वाक्यों में 'पुनातु' पवित्र करे, यह शब्द बारम्बार दोहराया गया है। यहाँ हमें केवल,

भूः	शिरः
भुवः	नेत्र
स्वः	कण्ठ
महः	हृदय
जनः	नाभि
तपः	पाद (पैर),

इन वाक्यों तथा अङ्गों में क्या क्रम तथा क्या साभिप्रायता है यह दिखाना है।

सबसे पहले सिर को लीजिये। सिर हमारे सम्पूर्ण शारीरिक तथा मानस क्रिया-कलाप की जन्मभूमि है। इसीलिए यहाँ परमात्मा को 'भूः' अर्थात् उद्भवस्थान के नाम से याद किया गया है।

अगला शब्द 'भुवः' है। 'भुवः' का अर्थ है 'होने का साधन', अर्थात् जैसे सिर पर सम्पूर्ण क्रिया-कलाप का स्थान है, निधान है, निकेतन हैं, उसी प्रकार नेत्र भी साधन हैं। सिर में जितना ज्ञान-भण्डार है,

वह नेत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही भरता है। इसलिए नेत्र यहाँ सब ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण[1] होकर आया है।

नेत्र से तात्पर्य सब ही ज्ञानेन्द्रियों से है। परन्तु मुख्य होने से नेत्र का नाम दे दिया है। वह सम्पूर्ण ज्ञान की वृद्धि का साधन प्रभु, मेरे नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों को पवित्र करे। ज्ञान का जन्म, और ज्ञान की वृद्धि, दो का वर्णन हो चुका। अब उसके अन्दर से बाहर आने की, दान करने की, बात उठी तो हम कण्ठ पर आ गए। यहाँ सुखस्वरूप (स्वः) परमात्मा का स्मरण किया गया है, क्योंकि वाणी की पवित्रता इसी में है कि वह संसार के लिए सुखदायिनी होकर निकले। अब प्रश्न उठता है कि वाणी सुख-स्वरूप कैसे हो ? इसका उत्तर अगले वाक्य में देते हैं—

ओं महः पुनातु हृदये।

वाणी मीठी उसी की होती है, जिसका हृदय विशाल हो। क्षुद्र-हृदय लोगों का स्वभाव है कि अपने से शक्तिशाली की सदा खुशामद, और अपने से छोटों के साथ सदा कठोर व्यवहार किया करते हैं। वस्तुतः इससे ठीक उलटा होने की आवश्यकता है। क्योंकि संसार में जो बड़े कहलाते हैं, उन्हें उनके दोष सुनानेवाला और छोटों को सान्त्वना देनेवाला कोई विरला ही होता है। महापुरुषों के हृदय से कभी कठोर शब्द भी निकलते हैं, तो उनमें बदला लेने का भाव कभी दृष्टिगोचर नहीं होता। वह कठोरता भी कल्याण के लिए ही होती

---

१. कई पाठक, सम्भव है, उपलक्षण को न समझ सकें, इसलिए हम उपलक्षण शब्द की व्याख्या कर देते हैं। संसार में कई शब्द अपने प्रकार के वाचक हो जाते हैं। जैसे कभी-कभी कहा जाता है कि देखना बच्चा ! दही का ध्यान रखना, कुत्ता न खा जाय। एक बालक भी समझता है कि कुत्ता का अर्थ बिल्ली-कौवा आदि सब ही खाने के अधिकारी हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि कुत्ते को तो न खाने देना, परन्तु बिल्ली आए तो उसे खिला देना।

है। परन्तु इसके लिए दिल बड़ा चाहिए। इसी प्रकार छोटे हृदय-वाले लोग एक मनुष्य के दुर्व्यवहार से सम्पूर्ण जाति के शत्रु अथवा एक के सद्व्यवहार से सम्पूर्ण जाति के अन्ध प्रशंसक बन जाते हैं।

प्रायः देखने में आता है कि जिन पुरुषों को पत्नी कर्कशा मिल गई, वे सम्पूर्ण स्त्री-जाति को कोसा करते हैं; और जिनको पति बुरा मिल गया, वे स्त्रियाँ पुरुष-जातिमात्र की निन्दा में तत्पर रहती हैं। परन्तु ये सब बातें हृदय के छोटेपन का प्रमाण हैं। मानो उनकी प्रेम-शक्ति एक स्त्री वा पुरुष को देखकर समाप्त हो गई। वस्तुतः ऐसा नहीं होना चाहिए। वाल्मीकि रामायण में महाराज दशरथ कैकेयी पर क्रुद्ध होकर कह बैठे—

अहो स्त्रियः शठाः नूनमहो स्वार्थपरायणाः।

अर्थात् 'ये स्त्रियाँ सब-की-सब धूर्त और स्वार्थ-परायण होती हैं।' परन्तु उनकी यह क्षुद्र-हृदयता एक क्षण से अधिक न ठहर सकी। दूसरे ही क्षण बोले—

न ब्रवीमि स्त्रियः सर्व्वाः भरतस्यैव मातरम्।

'मैं सब स्त्री-जाति को नहीं कहता। यह मेरी भूल थी। यह तो मैं केवल भरत की माँ को ही कहता हूँ।' इस प्रकार हरएक मनुष्य को इस क्षुद्रहृदयता से बचने में सदा तत्पर रहना चाहिए। मनुष्य के हृदय का बड़प्पन दो स्थानों पर पता लगता है। एक तो अपने दुर्बलों के प्रति व्यवहार में, और एक अपने से बड़े अधिकारियों का सामना करने में। इन दोनों प्रकार के बड़प्पन के लिए, ईश्वर को याद भी उसी नाम से करते हैं—ओं महः पुनातु हृदये—'वह महान् तेजोमय परमेश्वर मेरे हृदय को पवित्र करे।'

क्रमशः सिर से ज्ञान के बाह्य कारण नेत्र पर आए। वहाँ से ज्ञान के दानमार्ग कण्ठ पर आए। वहाँ से हृदय पर आए। अब हम हृदय की विशालता के कारण की ओर आते हैं। सम्भव है कि कई लोग कह उठें कि हम उच्च शिखर से गह्वर में आ गिरे—Sublime से

Ridiculous में आ गए। परन्तु सूक्ष्मदर्शी लोगों के लिए कोई भी बात यदि सत्य हो, तो फिर वह तुच्छ नहीं रहती। शरीर का मन पर कितना प्रभाव होता है, इसका तत्त्व शरीर-शास्त्री ही जानते हैं। अतः हृदय की विशालता के लिए ब्रह्मचर्य तथा पाचन-शक्ति को याद किया गया है। चरक महाराज ने लिखा है कि—**त्रयोऽवष्टम्भाः शरीरस्य आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्य्यम्।** जिस मनुष्य का आहार, पाचन-क्रिया ठीक नहीं रहती, उसका ब्रह्मचर्य स्थिर नहीं रह सकता। इसी प्रकार जो ब्रह्मचर्य-नाश द्वारा अपनी जनन-शक्ति को नष्ट करता है, उसकी पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है।

जनन-शक्ति से तात्पर्य केवल स्थूल जनन-शक्ति से ही नहीं, किन्तु मौलिक प्रतिभा (Creative Genius) से भी है। ब्रह्मचर्य की रक्षा उसकी वृद्धि का भी कारण है। इसलिए पाचन-शक्ति का ठीक रखना कितना आवश्यक है, यह सहज में समझा जा सकता है। पाचन बिगड़ा कि मनुष्य का स्वभाव चिड़चिड़ा हुआ और हृदय की विशालता में कमी आने लगी। इसके विपरीत जो ब्रह्मचर्य की रक्षा करता है, तथा पाचन-शक्ति को ठीक रखता है, उसका स्वभाव दूषित हो, तो भी शनैः-शनैः सुधरने लगता है और एक हँसमुख मनुष्य बन जाता है। इसलिए कहा है—

ओं जनः पुनातु नाभ्याम्।

'परम जनक मेरी नाभि को पवित्र करें।' अब प्रश्न उठता है कि नाभि अर्थात् पाचन-शक्ति कैसे ठीक रह सकती है? इसके उत्तर में कहते हैं—

ओं तपः पुनातु पादयोः।

'यह सबसे बड़ा तपस्वी जो दिन-रात अनादिकाल से कर्मशील है, मेरे पैरों को पवित्र करे।' पैरों का तप नाभि को ठीक रखता है। इस प्रकार शारीरिक व्यायाम, विशेषकर पैरों का व्यायाम कितना महत्त्व रखता है, यह इससे समझा जा सकता है कि एक विशाल भवन

की आधारशिला यद्यपि बहुत निचला स्थान पाती है, परन्तु उसके निकलते ही सारी भित्ति जर्जर और दोलायमान हो जाती है। इसीलिए हमें धर्म के किसी अङ्ग को भी तुच्छ न समझना चाहिए। जो मनुष्य पैरों से ठीक कर्म करता है, उसकी पाचन-शक्ति ठीक रहती है और वह नई रचना करने में समर्थ होता है, जिससे उसे इतना आह्लाद प्राप्त होता है कि उसका हृदय विशाल हो जाता है। इससे उसकी वाणी मधुर होती है। इससे उसे सत्संग की प्राप्ति होती है जिससे ज्ञान-वृद्धि होती है और समस्त ज्ञान की जन्म-भूमि अर्थात् उसका सिर दिनों-दिन पवित्र होता जाता है। इस प्रकार प्राप्त ज्ञान का प्रकाश केवल मधुर न हो अपितु सत्य भी हो। इसलिए कहते हैं—

ओं सत्यम्पुनातु पुनः शिरसि।

इन सब गुणों के पृथक्-पृथक् अभ्यास के पीछे मनुष्य को जो एक सर्वांग-सम्पन्न महाशक्ति की भावना होती है, उसके ध्यान के लिए कहा—

ओं खम्ब्रह्म पुनातु सर्व्वत्र।

वह सर्वव्यापक परमात्मा मुझे सर्वत्र पवित्र करे।

अथ प्राणायामः

ओ३म् भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः।
ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्।

अर्थ—इन भूः आदि व्याहृतियों के अर्थ 'ओं भूः पुनातु शिरसि' आदि मन्त्रों के अर्थों में आ चुके हैं।

प्राणायाम के मन्त्र और कुछ नहीं, मार्जन-मन्त्रों का संक्षेप-मात्र हैं। उनमें उन्हीं भावों की फिर आवृत्ति करनी है, जो ऊपर कहे जा चुके हैं। किन्तु चित्त की एकाग्रता के लिए शब्द छोटे कर दिये गए हैं। अन्त को हमें एक दिन उस अवस्था तक पहुँचना है जब एक 'ओंकार'

के उच्चारणमात्र से वे समस्त भावनाएँ जागृत हो उठें, जो हम इतने मन्त्रकलाप से जगाना चाहते हैं। परन्तु वह कोटि निरन्तर अभ्यास से प्राप्त होती है। इसीलिए प्राणायाम में मार्जन-मन्त्रों का आरम्भ-वाक्य ही ले लिया गया है और उसी में उसका मर्म छिपा है, जो हम ऊपर दिखा चुके हैं।

अब प्रश्न उठता है कि प्राणायाम से विशेषता क्या उत्पन्न होती है ? इसके लिए उपनिषत्कार ने स्पष्ट ही बताया है कि जिधर प्राण जाता है, सब इन्द्रियों को वहाँ एक-साथ ही जाना पड़ता है। इसीलिए जब मनुष्य किसी गहरे विचार में मग्न होता है, तो उसकी श्वासप्रश्वास-क्रिया भी निरुद्धकल्प हो जाती है। इसीलिए इस प्रकार के ध्यान को अंग्रेजी भाषा में निरुद्धश्वास ध्यान (Breathless Attention) पुकारा जाता है। प्राणायाम में केवल इतना भेद है कि यहाँ प्रक्रिया उलटी कर दी गई है। ध्यान से प्राणनिरोध होने के स्थान में प्राणनिरोध द्वारा एकाग्रता की सामग्री उपस्थित कर दी गई। यह एक साधारण-सा परीक्षण है कि जब कभी काम-क्रोधादि का कोई वेग मन को प्रबलता से एक ओर खींचता हो, उस समय प्राण को रोकने से एक बार तो अवश्य ही मन वश में आ जाता है। फिर हम उस वशीकार को स्थिर कहाँ तक रखते हैं, यह दूसरी बात है। यह परीक्षण लेखक ने स्वयं अपने जीवन में अनेक बार किया है।

परन्तु प्राणायाम को कोई अपने कर्त्तव्य की समाप्ति न समझे। प्राणायाम तो केवल वह अवस्था उत्पन्न कर देता है जिसमें मन को जो आज्ञा दी जाय, वह जड़ पकड़ लेती है। परन्तु यदि कोई संकल्प-हीन मनुष्य प्राणायाम करते समय अपने मन को कोई आज्ञा नहीं देता, तो वह ऐसा ही है जैसे कोई सेनापति बारम्बार बिगुल बजाकर अपने सैनिकों को इकट्ठा कर ले, किन्तु जब-जब वे हाथ बाँधकर पूछें कि प्रभो ! क्या आज्ञा है ? तो कह दे, मैंने तो यों ही मनोविनोद के लिए बुलाया था। इस प्रकार के प्राणायाम से रुधिर की शुद्धि

होकर कुछ शारीरिक लाभ भले ही हो जाय, परन्तु आध्यात्मिक लाभ कुछ नहीं हो सकता। इसीलिए यहाँ 'भूः भुवः' आदि अनेक गुणवाची शब्दों से प्रभु को याद किया है। वह गुण शरीर के जिस अंग में पाया जाता है, वहाँ ही उस गुण का मार्जन-स्थान बनाया है। यहाँ ही **देशबन्धश्चित्तस्य धारणा** इस लक्षण के अनुसार योग का धारणा-नामक अंग पूरा होता है।

यहाँ धारणा के सम्बन्ध में कुछ बातों को स्पष्ट कर देना अप्रासङ्गिक न होगा। यह योग का वह अंग है जिसको लेकर मूर्तिपूजक प्रायः आर्यसमाज पर आक्षेप किया करते हैं। इसलिए इसका मूर्तिपूजा से भेद स्पष्ट कर देना होगा। जिस प्रकार काम-वासना से उपस्थेन्द्रिय में उत्तेजना होती है, इसी प्रकार ईश्वराराधन से भी मनुष्य के विशेष अंगों में विशेष गति होती है। ईश्वराराधन से ही क्यों, वीर-रस का काव्य सुनने से भी रोमाञ्चादि का प्रादुर्भाव होता है। यह भी सत्य है कि इसका उलटा भी होता है। जिस प्रकार काम से उपस्थेन्द्रिय में उत्तेजना होती है, उसी प्रकार उपस्थेन्द्रिय को उत्तेजना देने से काम उत्पन्न होता है। ठीक इसी प्रकार शरीर में कई ऐसे मर्म-स्थान हैं, जहाँ प्राणशक्ति एकाग्र करने से मनुष्य की ईश्वराराधन में तल्लीनता को बड़ी सहायता मिलती है। इस प्रकार धारणा का ईश्वर से वा उसके स्वरूप से कुछ सम्बन्ध नहीं। वह तो आध्यात्मिक रस को अनुभव करानेवाले अंगविशेषों से सम्बन्ध रखती है, अर्थात् इसमें ध्यान-साधन इन्द्रिय-विशेष में प्राणशक्ति का संचार होता है। दूसरी ओर मूर्तिपूजा में ध्येय-विषयक मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है। एक दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जायगी। धारणा ऐसे है, जैसे पेट का व्यायाम करके पाचन-शक्ति को तीव्र करना; उसका भोजन से कुछ सम्बन्ध नहीं। दूसरी ओर मूर्तिपूजा ऐसे है जैसे रेत में खाँड की भावना करके उसे फाँकना। भ्रू-मध्य, मेरुदण्डादि में ध्यान का यही तात्पर्य है। यह आधार-सप्तमी है, विषय-सप्तमी नहीं;

अर्थात् जैसे कोई कहे कि ईश्वर का ध्यान एकान्त में, गुफा में करना चाहिए। यहाँ भ्रू-मध्य 'में' प्राणशक्ति को एकाग्र करके ध्यान ईश्वर का ही करना है। दूसरी ओर मूर्तिपूजा में मूर्ति का ध्यान करना है।

इसी प्रकार एक और सूत्र है, जो भ्रम उत्पन्न करता है। उसका भी यहाँ वर्णन कर देना उचित होगा। वह सूत्र है **चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः।** इस सूत्र के समझने में भूल यह होती है कि इस सूत्र का ईश्वराराधन से कुछ सम्बन्ध नहीं, पर समझ लिया जाता है। एकाग्रता का अभ्यास और ईश्वर में एकाग्रता का अभ्यास, दो बिल्कुल भिन्न वस्तुएँ हैं। चाँदमारी करनेवाले भी एकाग्रता का अभ्यास करते हैं। लोहार अपनी हथौड़ी लेकर और चित्रकार अपनी तूलिका (Brush) लेकर भी एकाग्रता का अभ्यास करता है। परन्तु वह यह दावा नहीं करता कि मैं ईश्वर की आराधना कर रहा हूँ। जिस मनुष्य का चित्त विक्षिप्त रहता है, वह किसी प्रकार भी एकाग्रता का अभ्यास करे, परन्तु जब ईश्वराराधन में प्रवृत्त हो, तब ईश्वर में ही चित्त को एकाग्र करना चाहिए। मूर्तिपूजक केवल चाँदमारी नहीं कर रहा होता, वह ईश्वर में चित्त एकाग्र करने का दावा करता है। मूर्ति-पूजा के पक्षपाती कहते हैं कि वे चित्त की एकाग्रता का अभ्यास कर रहे हैं, और कर रहे होते हैं मूर्ति में ईश्वर के अध्यास का अभ्यास। इस अविद्या के अध्यास का फल यही होता है कि—

'अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

धारणा के सम्बन्ध में इतना तो लेखक का स्वानुभव है कि प्राणायाम में ठीक उससे उलटी क्रिया होती है जैसी कि गर्भाधान में वीर्य-विसर्जन-काल में होती है। उस समय बुद्धि में एक निर्मलता आने लगती है, रोमाञ्च होने लगता है। मनुष्य अनुभव करता है कि मानो वह किसी शक्ति को ब्रह्मकुण्ड (सिर) में चढ़ा रहा है। इससे 'ऊर्ध्वरेता' शब्द के अर्थ का कुछ-कुछ आभास होने लगता है। इसका विशेष विस्तार योगदर्शन में देखना चाहिये।

प्राणायाम करनेवालों को निम्न बातें स्मरण रखनी चाहिएँ—

१. जब तक पेट की मल-शुद्धि ठीक न हो ले, तब तक प्राणायाम नहीं करना चाहिये।

२. प्राणायाम इतना धीरे-धीरे करना चाहिये कि प्राण के आकर्षण तथा विसर्जन की आवाज़ अपने कान को भी न सुनाई दे।

३. प्राण को बाहर और भीतर इतना ही रोकना चाहिए जितना सुख से रोक सके। अपने ऊपर अत्याचार न करना चाहिये। अभ्यास शनैः-शनैः बढ़ाना चाहिये।

४. भोजन करके तुरन्त ही प्राणायाम कभी न करना चाहिये।

अथाघमर्षणम्

ओ३म्। ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥

अर्थ—(विश्वस्य) सम्पूर्ण (मिषतः) निमेषोन्मेष अर्थात् हरकत करनेवालों के (वशी) वश में करनेवाले उस परमेश्वर ने (अहोरात्राणि) दिन-रात को (विदधत्) बनाया (धाता) उसी परमेश्वर ने (यथापूर्वम्) पूर्व-सृष्टि की तरह (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चाँद को (अकल्पयत्) बनाया (दिवं च) द्यौ को भी (पृथिवी च) पृथिवी को भी (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी (अथो) और (स्वः) स्वः को भी। उसी परमेश्वर के (अभीद्धात्) देदीप्यमान (तपसः) प्रताप से (ऋतं च) यथार्थ ज्ञान वेद (सत्यं च) और त्रिगुणात्मक प्रकृति (अध्यजायत) कार्यरूप में पहले की तरह उत्पन्न हुए (ततः) उससे ही (रात्री)

प्रलयावस्था (अजायत) उत्पन्न हुई (ततः) उससे ही (समुद्रः) जल का समुद्र और मेघ (अर्णवः) लहरोंवाला उत्पन्न हुआ (अर्णवात्) लहरयुक्त (समुद्रात्) समुद्र से (अधि) पीछे (संवत्सरः) दिन, मास, वर्षादि व्यवहार (अजायत) उत्पन्न हुआ।

सन्ध्या के आत्मपरीक्षण-सम्बन्धी भाग की यह अन्तिम कड़ी है। मनुष्य आत्मपरीक्षण से बड़े घबराते हैं। सच तो यह है कि वे अपना असली चित्र देखना नहीं चाहते। इसलिए जब किसी से कोई अपराध हो जाता है, तो वह मित्र-मण्डली में बैठकर हँसी-खेल में, विनोद में, मादक द्रव्यों की उपासना में—जैसे भी हो—अपने-आपको भुलावा देकर उस महाशक्ति की मार से बचना चाहता है, जिसके लिए वेद ने कहा है—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥

—यजुः० १९।७७

'अर्थात् प्रभु ने सत्य में श्रद्धा और असत्य में अश्रद्धा सब मनुष्यों के हृदय में स्थापित की है।' किन्तु इस मार से मनुष्य बचना चाहता है। मार है भी कड़ी। संसार से भागकर मनुष्य छिप जाय, पर अपने-आप से भागकर कहाँ छिपे? वेद कहता है कि सीधा रास्ता यह है कि छिपने का यत्न ही मत करो। अपनी कर्मपत्री का, आँख खोलकर, ढूँढ-ढूँढकर, निरीक्षण करो। जहाँ-जहाँ तुमने भूल की है, उसे सुधारो। यदि तुम इस आवाज़ को दबाओगे, तो वह किसी दिन भयङ्कर दुःख और दैवी दुर्घटना का रूप धारण करके तुम्हारे सामने खड़ी होगी। हाँ, जिस भय से मनुष्य अपने कर्मों को पड़ताल नहीं करना चाहते, उन पापों की चोट को सहन करने का उपाय वेद ने किया है। उसी का नाम है अघमर्षण—पाप का सहना (मृष तितिक्षायाम्)। पाप की चोट दो प्रकार से होती है— एक 'अभिमान' से, दूसरी 'अवसाद' जब से। मनुष्य अपने कर्मों के भयङ्कर चित्र को देखता है, तो उसके

हृदय में जो निरुत्साहता होती है उसी का नाम अवसाद है। उसका वर्णन हो चुका। दूसरी ओर जब मनुष्य यह समझता है कि मेरे पास अपार ऐश्वर्य है, परमेश्वर मेरा क्या बिगाड़ सकता है ? तब अभिमानजन्य पाप उसे आ दबाता है। इन दोनों में कौन-सी चोट कठिनतर है, यह कहना सुगम नहीं। परन्तु वेद ने दोनों का उपाय एक ही मन्त्र में जिस सुन्दरता से बताया है, वह अति विलक्षण है। वेद ने अवसाद को हटाने के लिए, सृष्टि और अभिमान को दूर करने के लिए प्रलय का चक्र उसके सामने रख दिया है। यदि मनुष्य को अवसाद दबा रहा है, तो वह विचारे कि जिसके सामर्थ्य से अव्यक्ततम अवस्था से पहुँचा हुआ यह सारा ब्रह्माण्ड फिर बन जाता है, उसकी आज्ञा में चलने से, अपने आचरण द्वारा उसका सच्चा विश्वासी बनने से क्या मेरा बिगड़ा जीवन फिर न सुधर सकेगा ? अवश्य सुधर सकेगा। अवश्य सुधरेगा। इसके विपरीत जब उसे अभिमान का मद चढ़ने लगे, तब वह विचारे कि जिसके सामर्थ्य से यह विशाल विश्व क्षण-भर में बुलबुले की तरह लीन हो जाता है, उस विश्वपति के आगे मुझ नरकीट की क्या गणना है ! इसलिए यहाँ मन्त्र में सृष्टि-प्रलय का, दिन-रात का, सूर्य और चन्द्र का, चक्र चलता हुआ दिखाया गया है।

इन मन्त्रों में 'विश्वस्य मिषतः' का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि उस लीलामय का स्वभाव ही है—कर्मानुसार फल देने के लिए सृष्टि रचना। सूर्य-चन्द्रादि तो सब उस लीला का एक निमेष-मात्र है। इस प्रकार अर्थ करने में 'मिषतः' यह 'मिष' शब्द की पञ्चमी है। हमने जो ऊपर अर्थ दिया है, वह 'मिष' धातु के 'शत्रन्त' प्रयोग की षष्ठी है। दोनों अर्थ सङ्गत हैं, चाहे जैसे भी समझ लें। मन्त्र के मुख्य उद्देश्य—अघमर्षण—में उससे कुछ भेद नहीं आता।

अथ मनसापरिक्रमा

आत्म-परीक्षण हो लिया, मार्जन हो लिया, प्रसंगात् परिताप की वेदना का मर्षण भी हो लिया। अब हृदय फिर महासङ्कल्पों की आवृत्ति के लिए तैयार है। इसलिए सबसे पहले अहिंसा के संकल्प को स्मरण करते हैं। इसी संकल्प को महर्षि पतञ्जलि ने "देशकाल-जात्यनवच्छिन्ना सार्व्वभौमा महाव्रतम्" कहा है। इसी को भाष्यकार व्यास ने "सा च सर्व्वभूतोपकारार्थम्प्रवृत्ता मूलञ्च सर्व्वधर्म्माणाम्" बताया है, अर्थात् यह अहिंसा सार्वभौम (Universal) महाव्रत है, यह सब धर्मों का मूल है।

अहिंसा के दो मूल हैं—एक स्वार्थ, और दूसरा विद्वेष। जो हमसे द्वेष करते हैं और जिनसे हम स्वार्थवश द्वेष करते हैं, दोनों का ही इस में वर्णन है। आओ, थोड़ी देर के लिए हम स्वयं उनके भाग्य-विधाता न बनें। उन्हें आपके न्याय की दाढ़ में अर्पण कर दें। प्रश्न उठता है 'आपकी' किनकी? इसके उत्तर में परमेश्वर और उसके गुणों का वर्णन है। परन्तु इन गुणों को वेद ने अलङ्कार में वर्णन किया है। सामने, पीछे, दाएँ, बाएँ, नीचे, ऊपर, चारों ओर उस प्रभु से घिरा होकर मनुष्य न्याय करे। यदि फिर भी उसकी दृष्टि में कोई दण्डनीय है, तो कम-से-कम उसने अपने कर्त्तव्य का पालन किया। इनमें से प्रत्येक दिशा मनुष्य की जीवनयात्रा की एक दिशा है। उस दिशा में यात्रा करते हुए प्रभु का जो सबसे बड़ा गुण स्मरण करना उचित है, उसे उस दिशा का 'अधिपति' कहा गया है। उस गुण के सहायक मुख्य गुण को 'रक्षिता' कहा गया है। संसार में जिस प्रकार के मनुष्यों वा जिन पदार्थों से वह सीखा जा सकता है, उनको 'इष्' (बाणवत् सीधे-से-सीधे मार्ग से इच्छा-पूर्ति का साधन) कहा गया है। उन 'अधिपति' और 'रक्षिताओं' को अर्थात् परमात्मा के उन गुणों तथा इच्छा-पूर्ति करनेवाले तद्गुणयुक्त पुरुषों को नमस्कार करके मैं अहिंसा-व्रत

धारण करता हूँ। जो हमसे द्वेष करते हैं, उन्हें उनके न्याय के अर्पण करता हूँ, अर्थात् उस प्रभु के न्याय के अर्पण करता हूँ। इस प्रकार मन में चारों ओर उस परमेश्वर के उन गुणों का ध्यान 'मनसा-परिक्रमा' है। इसलिए यह प्राची, दक्षिणादि दिशा बाह्य जगत में न ढूँढकर अन्दर ढूँढनी चाहिए। इसलिए ऋषि लिखते हैं—'यत्र स्वस्य मुखं सा प्राची'—जो बाह्य दृष्टि से प्राची है, वह 'मनसा परिक्रमा' की प्राची नहीं है, किन्तु जिस ओर अपना मुख हो वह प्राची है। इन 'परिक्रमा' मन्त्रों के साथ 'मनसा' का शब्द बढ़ाकर ऋषि ने जिस मर्मग्राही पांडित्य का प्रकाश किया है, उसके आगे बारम्बार श्रद्धा से सिर झुक जाता है।

अब प्रत्येक मन्त्र को क्रमशः लीजिए।

अथ प्राची दिक्

ओ३म्। प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥१॥

अर्थ—(दिक्) मेरी दिशा (प्राची) आगे बढ़ने की है (अग्निः) अग्रणी भगवान् (अधिपतिः) इसमें अधिपति हैं (असितः) बन्धन काटने वाला उनका गुण (रक्षिता) रक्षा करनेवाला है (आदित्याः) विद्वान् (इषवः) बाण की तरह इच्छापूर्ति करनेवाले सहायक हैं (तेभ्यः) उस (अधिपतिभ्यः) अधिपति को (नमः) नमस्कार (रक्षितृभ्यः) रक्षक को (नमः) नमस्कार (इषुभ्यः) इच्छापूर्ति करनेवाले बाणरूप आदित्यों को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे (यः) जो (अस्मान्) हमको (द्वेष्टि) द्वेष करता है (यं) जिसको (वयं) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (तं) उसे (वः) आपके (जम्भे) न्यायरूप दाढ़ में (दध्मः) रखते हैं।

मनुष्य के लिए भक्ति-मार्ग में चलते हुए सबसे पहली दिशा कौन-सी है, इसका उत्तर प्राची शब्द से मिलेगा। यह शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है—एक 'प्र', दूसरा 'अञ्च्'। 'प्र' उपसर्ग है, 'अञ्च्' धातु है। 'प्र' के अर्थ 'शब्द-कल्पद्रुम' में इस प्रकार दिये गए हैं—"१. आरम्भे, २. गतौ, ३. उत्कर्षे, ४. प्राथम्ये, ५. सर्व्वतोभावे, ६. उत्पत्तौ, ७. ख्यातौ, ८. व्यवहारे।" 'वाचस्पत्यबृहदभिधान' में गणरत्न-टीका का उद्धरण देकर इसके अर्थ निम्न दिये गए हैं—"आदिकर्म्मदीर्घेशसम्भवतृप्तिवियोगशक्तीच्छाशान्तिपूजप्रदर्शनेषु।" इनमें से 'उत्कर्ष' और 'अग्रे' दो इस प्रकरण में सङ्गत हैं। "या अग्रे उत्कर्षाय वा अञ्चति सा प्राची"—जो आगे अर्थात् उन्नति की ओर जावे, वह प्राची है।

अहिंसा-व्रत का धारण करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य शक्तिसञ्चय करे। जिसमें हिंसा करने की शक्ति ही नहीं, उसे अहिंसक कैसे कहें? वह तो एक लाश है। यही नहीं, अहिंसा शब्द 'अमित्र' शब्द की तरह 'पर्य्युदास' है, 'प्रसज्य प्रतिषेध' नहीं। इसका अर्थ हिंसा न करना मात्र नहीं, किन्तु उपकार करना है। एक मनुष्य अफीम खाकर नशे में पड़ा है, अथवा जङ्गल में भागकर एकान्तवास में जीवन बिताता है। उसके जीवन में हिंसा का अभाव है, किन्तु यह 'अहिंसा' नहीं, क्योंकि वह तो "सर्व्वभूतोपकारार्थ प्रवृत्ता" प्राणिमात्र के उपकार के लिए प्रवृत्त हुई है। इस जङ्गल में भागनेवाले के जीवन में लोकोपकार तो कुछ भी नहीं। भागनेवाले मध्यकालीन वैरागियों ने तो हिंसा की हिंसा के साथ अहिंसा की भी हिंसा कर दी।

वैदिक धर्म में भक्ति-मार्ग का आरम्भ वीर रस से होता है। उसमें 'श्मशान-वैराग्य' का स्थान बहुत थोड़ा है; केवल इतना कि वह मनुष्यों को विषय-वासना से छुड़ा दे। इसीलिए भगवान् पतञ्जलि ने इसे निर्वेद कहकर छोटा दर्जा दिया है। सच्चा वैराग्य तो वस्तुतः एक तीव्रतर अनुराग है। वैदिक धर्म तो कहता है—

"उद्यानं ते पुरुष नावयानम्", "उपेहि श्रेयांसमतिसमङ्क्रम", "कृतम्मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।" इसीलिए परिक्रमा-मन्त्रों में मानो कोई योद्धा को सम्बोधन करके कह रहा है—उठ! तेरे लिए सबसे मुख्य दिशा एक है। वह कौन-सी? प्राची दिक्।

वैदिक भक्ति-मार्ग की सबसे बड़ी सुन्दरता यही है कि वह पुरुषार्थ-प्रिय होता है। केवल भारत में ही नहीं, प्रायः अन्य देशों में भी भक्ति पुरुषार्थ का नाश करती रही है। भक्ति का स्वरूप होना तो यह चाहिए कि निरन्तर भजन द्वारा पुरुष प्रभु की अन्तर्यामिता का, उसके जातवेदाः होने का, जीवित अनुभव होने के कारण और अधिक वेग से पुरुषार्थ करे और विरोधी शक्तियों से भी न दबे, किन्तु होता उलटा ही है। भक्त लोग भक्ति का बदला पुरुषार्थ में काटने लगते हैं। वे समझने लगते हैं कि यदि भक्ति करने पर पहले से भी अधिक पुरुषार्थ करना पड़ा, तो फिर भक्ति का लाभ ही क्या हुआ? उस समय भक्ताभास लोग यह कहने लगते हैं कि हमारे भगवान् तो आशुतोष हैं, श्रद्धा-पूर्वक दो बिल्वपत्र चढ़ाने मात्र से संतुष्ट होकर तार देते हैं। इस पर दूसरे भक्त इनसे भी बाज़ी ले जाते हैं। वे कहते हैं—

सांकेत्यम्पारिहास्यं वा स्तोमं जल्पनेन वा।
मुरारिनामग्रहणं निश्शेषाघहरं विदुः॥

—श्रीमद्भागवत

अर्थात् इशारे से, हँसी-विनोद में, ताना देते हुए अथवा प्रलाप करते समय अचानक भी यदि मुरारी का नाम मुख से निकल जाय, तो वह समस्त पापों का हरण करनेवाला है। यह भक्ति नहीं प्रमाद है, यह रस नहीं घोर हलाहल है। इससे नास्तिकता सहस्रगुणी अच्छी है। नास्तिक जितना पुरुषार्थ स्वयं करता है, उतना तो करेगा। किन्तु ये भक्त तो हाथ पर हाथ धरकर बैठेंगे। न केवल स्वयं डूबेंगे, किन्तु अपने पीछे चलनेवाले सब लोगों का भी सर्वनाश करेंगे। सोमनाथ के

मन्दिर पर यही भक्तलीला हुई थी। इस भक्ति से कोसों दूर रहे तो तो अच्छा ! संसार का घोर-से-घोर दुराचारी इस प्रकार के भक्त से अच्छा, क्योंकि वह स्वयं अपना अपयश कराता है। परन्तु इस प्रकार के भक्ताभासों से भक्ति बदनाम होती है। लोग खुल्लमखुल्ला दुराचार करते हैं, और जब रोको तो भगवान् की भक्त-वत्सलता की दुहाई देने लगते हैं, जिसका परिणाम होता है कि लोगों को भक्ति से ही घृणा हो जाती है। इसीलिए वैदिक भक्ति-मार्ग में सबसे पहली बात यही कही गई है—प्राची दिक्।

हमारे सामने प्रभु की आराधना के लिए सबसे पहली दिशा आगे बढ़ने की, उत्कर्ष की ओर जाने की दिशा है। इसलिए सबसे पहले हम परमात्मा को "अग्नि-अधिपति" के नाम से याद करते हैं। अग्नि का अर्थ निरुक्त में यास्काचार्य ने दिया है "अग्रणी, आगे ले जाने-वाला, प्रकाश और शक्ति का पुञ्ज।" भौतिक अग्नि को भी अग्नि इसलिए कहते हैं क्योंकि उसमें प्रकाश और ताप दोनों गुण विद्यमान हैं। यही दोनों गुण आगे बढ़ने की सामग्री हैं। जिसमें गर्मी नहीं रही, वह आगे नहीं बढ़ सकता। वह ठण्डा हो गया। जो अन्धकार में है, वह शक्ति रहते हुए भी ठोकर खाकर गिर पड़ता है। इसीलिए कहा कि हम आगे बढ़ें और अग्नि अधिपति को सदा स्मरण रखें। शारीरिक शक्ति में आगे बढ़ें, मानसिक शक्ति में आगे बढ़ें, सामाजिक शक्ति में आगे बढ़ें। याद रहे, यदि आगे नहीं बढ़ेंगे तो अग्नि अधिपति को बदनाम करेंगे। इस प्रतीक्षा में न रहें कि "दुःख, कष्ट, अन्धकार और अत्याचार जब मेरे द्वार पर आ खड़े होंगे, तब ही मैं उनसे लड़ूँगा।" नहीं, हम आगे बढ़ें, अग्रेसर (Aggressive) हों, आगे बढ़ें, आगे बढ़ें।

जिस प्रकार मिट्टी में खट्टा, मीठा, कड़वा रस होने पर भी नींबू, गन्ना तथा नीम अपना-अपना रस खींचते हैं, इसी प्रकार सच्चा भक्त प्रभु से सबसे पहले 'अग्नि शक्ति' खींचता है। इस भक्ति-रस का मर्म

कोई क्या कहे ! लोग ताप बुझाना चाहते हैं और यहाँ उलटा अग्नि को बुला रहे हैं ! सामवेद का आरम्भ ही अग्नि को बुलाने से होता है—'अग्न आयाहि वीतये ।' ऋग्वेद में आरम्भ से ही अग्नि के गुण सुन-सुनकर भक्त उसके लिए अधीर हो उठा है। कहता है—'अग्न आयाहि वीतये ।' जिस प्रकार जल अन्य प्राणियों की मृत्यु का कारण बनता है, परन्तु मछली उसमें ही जीती है, इसी प्रकार जिसमें लोग जल मरते हैं, आग्नेय जीव उसमें ही अपना जीवन बिताते हैं। ऐसे आग्नेय जीव स्थूल सृष्टि में मिलते हैं अथवा नहीं, यह तो कहना कठिन है, परन्तु सच्चे भक्त इसी प्रकार के प्राणी हैं। उनका प्रभु अग्नि है—तेजःपुञ्ज है, और वे भक्त भी अग्नि हैं। जहाँ वे रहेंगे, अन्धकार नहीं रह सकता, आलस्य और जड़ता नहीं रह सकती। वे 'अग्रणी' हैं। क्यों न हों ! क्या उनका अधिपति 'अग्नि' (अग्रणी) नहीं ?

प्रकाश आया, शक्ति प्रादुर्भूत हुई, आगे बढ़ना आरम्भ भी हुआ, किन्तु विघ्न आ गये। उन्होंने हमें बाँधकर खड़ा कर दिया। उस समय आवाज़ आती है—'तेरे अधिपति को आज तक किसने बाँधा है ?' उठ, बन्धनों को काट ! सच्चा भक्त है तो परीक्षा दे ! परमेश्वर तेरी सहायता करेंगे ! पर अभी नहीं। अभी तो आगे बढ़, उसके गुणों को स्मरण रख, यही तेरी सबसे बड़ी सहायता है। इसीलिए कहा—"असितः (बन्धनरहितः) रक्षिता।" तेरे सेनापति का रक्षक बन्धन काटता है। तू भी अपनी 'प्राची दिक्' की रक्षा के लिए, आगे बढ़ने की रक्षा के लिए, बन्धन काट। सबसे बड़े बन्धन संसार में कौन-से हैं ?—विषय। विषय शब्द का अर्थ ही है—"विशेषेण सिनन्ति बध्नंतीति विषयाः"--जो कसकर बाँधें। उठ, आगे बढ़ ! विषयों के बन्धन काट !

यह मेरी कामना कौन पूरी करेंगे ? 'आदित्याः'—अध्यात्म-क्षेत्र में प्राण, और बाह्य जगत् में आदित्य ब्रह्मचारी। मैं उठूँ और इनकी

सङ्गति में बैठकर आगे बढ़ना सीखूँ और विषयों से लड़ना सीखूँ। भक्त-सेना के अग्रणी हे अधिपति ! तुझे नमस्कार ! तेरी विषयोच्छेदिनी शक्ति को नमस्कार ! इस संसार के प्राण-भूत, तेरी ज्योति से जाज्वल्यमान तेरे सच्चे भक्त आदित्य ब्रह्मचारियों को नमस्कार ! तू जब संसार में स्थूल अन्धकार के बन्धन काटता है, तब 'सूर्य' तेरे 'इषः' (इच्छा पूरी करनेवाले) बनते हैं। अध्यात्म-क्षेत्र में मनुष्य जब अपने विषयों के बन्धन काटना चाहता है, तो प्राणायाम द्वारा 'प्राण' बन्धन काटनेवाले 'इषः' बनते हैं, और मानव-जगत् में घोर अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले आदित्य, सच्चे विद्वान् लोग, हमारी कामना को पूरा करते हैं।

प्रश्न उठता है कि यहाँ 'नमः' किन 'इषुओं' को किया गया है ? उत्तर मिलता है कि यह मनसापरिक्रमा-मन्त्र है, इसलिए मन का अन्धकार दूर करनेवाले विद्वान् लोगों को, न कि जड़ सूर्य को। सूर्य तो केवल यहाँ व्यञ्जना द्वारा एक चमत्कार-मात्र उत्पन्न करता है।

इस प्रकार सार यह हुआ —भक्त कहता है, "मेरे सामने सबसे पहली दिशा आगे बढ़ने की दिशा है। भगवान् अग्नि हैं। वह इस दिशा में बढ़नेवाले सैनिकों के अधिपति हैं। उनका बन्धन काटनेवाला गुण ही मुझे इस मार्ग में सहायक होगा। जिन्होंने आगे बढ़ना सीखा तथा बन्धनों पर विजय पाई, वे आदित्य विद्वान् लोग ही मेरे इस मार्ग में सहायक हैं। वे ही मेरे भी बन्धन काटने में सहायक होंगे। उन सबको मेरा नमस्कार है ! अधिपति को नमस्कार, रक्षिता को नमस्कार, अन्धकार के विदारण में समर्थ इषु-भूत आदित्य ब्रह्मचारियों को नमस्कार हो, सबको नमस्कार हो ! जो हमसे द्वेष करता है, जिससे हम द्वेष करते हैं, उसे तुम्हारे न्याय पर छोड़ते हैं। इस प्रकार स्वार्थ और द्वेष से पैदा हुई हिंसा से लड़ने का सबसे प्रथम पाठ मैं पढ़ता हूँ।"

अथ दक्षिणा दिक्

ओ३म् । दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥८॥

अर्थ—(दक्षिणा) ऐश्वर्य की (दिक्) दिशा है, (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् भगवान् (अधिपतिः) अधिपति हैं जो (तिरश्चिराजी) कुटिल चाल से (रक्षिता) बचानेवाले हैं (पितरः) वृद्ध विद्वान् (इषवः) इस प्रयोजन में इच्छापूर्ति करनेवाले बाण-रूप हैं। आगे पूर्ववत्।

अब दूसरा पाठ आरम्भ होता है। जब मनुष्य पुरुषार्थ करता है, आगे बढ़ने का यत्न करता है, तो उसका पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं होता। सूक्ष्म पुरुषार्थ का भी सूक्ष्म हो सही, पर फल मिलता अवश्य है। यही प्रश्न अर्जुन ने कृष्ण से किया था—

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥

—गीता ६।३९

"हे कृष्ण, कर्म-मार्ग पर चलते हुए जो मार्ग में गिर पड़े, क्या उसका सारा किया निष्फल जायगा? आप ही यह मेरा संशय दूर कीजिये। आपसे भिन्न इस संशय को दूर करनेवाला कोई जँचता नहीं।" कृष्ण कहते हैं—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥

—गीता ६।४०

"अर्जुन ! न उसका किया इस लोक में व्यर्थ होता है, न परलोक में। कल्याण-कर्म करनेवाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।"

इसलिए जैसे-जैसे मनुष्य पुरुषार्थ करता है, उसके ऐश्वर्य की वृद्धि होने लगती है। वह 'इन्द्र' होने लगता है। उसकी 'दक्षिण दिशा' बढ़ने लगती है। शतपथ में कहा है—'वीर्यं वै दक्षिणो बाहुः।' संसार में भी जो जिसका सहायक होता है, उसे उसका दाहिना हाथ (Right Hand) कहते हैं। जब 'दक्षिणा दिक्' अर्थात् पुरुषार्थजन्य ऐश्वर्य बढ़ने लगे, तब मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह सबसे बड़े 'इन्द्र' परमैश्वर्यवान् विश्वपति को स्मरण कर ले। इसका परिणाम यह होगा कि वह 'तिरश्चिराजी' (टेढ़ी रेखा) से बच जायगा। 'तिरश्चिराजी' का अर्थ ऋषि ने 'पञ्चमहायज्ञविधि' में साँप, बिच्छू आदि किया है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह 'मनसा परिक्रमा' है। इसमें केवल बाह्य साँप-बिच्छू आदि का ही वर्णन नहीं, किन्तु मन में ईर्ष्या, कुटिलता, अभिमान के जो विषैले साँप-बिच्छू घूमते रहते हैं, उनका भी वर्णन है। मनुष्य का स्वभाव है कि जब उसे ऐश्वर्य मिलता है, तो वह टेढ़ा चलने लगता है। हिन्दी के सुकवि रहीम ने कहा है—

'प्यादे ते फरजी भयो, तिरछो-तिरछो जात।'

शतरंज का प्यादा जब वज़ीर बन जाता है, तो टेढ़ा चलने लगता है। ऐसे समय में 'परमेन्द्र' का स्मरण ही उसके मद का उत्तम औषध है। कविवर रहीम के जीवन की घटना इस भावना को बहुत सुन्दर रूप से प्रकाशित करती है। रहीम नवाब थे। उनका नियम था, प्रतिदिन कुछ रुपये-पैसे आदि मिलाकर चारों ओर उसकी ढेरी लगा लेते और आँखें नीची करके ढेरी में से याचकों को मुट्ठी भरकर देते जाते। एक बार कविवर गङ्ग ने पूछा—

'ऐसी कहाँ नवाबजू, सीखी देनी दैन,
ज्यों-ज्यों कर ऊँचो चढ़े, त्यों-त्यों नीचे नैन ?'

रहीम ने उत्तर दिया—

'देने वाला और है, जो देता दिन-रैन,
दुनिया मेरा नाम ले, या विधि नीचे नैन।'

यही 'दक्षिणा दिक्' की भावना है। परन्तु इसका आस्वाद वही ले सकता है, जिसने पुरुषार्थ करके ऐश्वर्य कमाया है। आकाश की भाँति ईश्वर के ऐश्वर्य का विस्तार भी, जो जितना सिर ऊँचा उठाये, उसे उतना और अधिक दीखता है। दिगन्त की भाँति ज्यों-ज्यों आगे बढ़ो, उस प्रभु का अन्त नहीं मिलता। इसलिए आगे बढ़ो, पर इसे न भूल जाना कि तुम कितने भी बड़े बन जाओ, प्रभु तुमसे बड़ा है।

परन्तु जो आगे ही नहीं बढ़ा, वह उसके बड़प्पन को क्या समझे? भक्त की शोभा इसी में है कि पूर्ण पुरुषार्थ से तो ऐश्वर्य प्राप्त करे, और यह भी याद रक्खे कि अन्त को है ऐश्वर्य 'उसी' का। उसी की वस्तु उसकी प्रजा को देता हूँ, इसमें मेरा क्या? जिस सिर में उभरने की शक्ति ही नहीं, उसका झुकना क्या? अब प्रश्न यह है कि यह भावना संसार में किससे सीखें? उसका उत्तर है 'पितरः इषवः'—पितर अर्थात् ज्ञानी लोगों से। अब प्रश्न उठ सकता है कि 'आदित्य' भी विद्वान् लोग और 'पितर' भी ज्ञानी लोग, फिर इनमें भेद क्या हुआ? इसका तत्त्व 'शतपथ ब्राह्मण' से मिलता है। शतपथ में लिखा है कि "य एवापूर्य्यतेऽर्धमासः स देवोः, य एवापक्षीयते स पितरः, अहर्वै देवाः, रात्रिः पितरः; पूर्वाह्णो देवा, अपराह्णः पितरः।" अर्थात् जो वयोवृद्ध लोग संसार का अनुभव पाकर ज्ञानी हुए हैं, जिन्होंने यौवन के पीछे जरा देख ली है, वे ही विनय का उपदेश अच्छा दे सकते हैं।

भारतवर्ष के इतिहास पर दृष्टि डालते हुए कभी-कभी इसका अनुभव प्रत्यक्ष-सा होने लगता है। संसार की नवयुवक जातियों को मानो यह बूढ़ी जाति कह रही है कि "ऐ भोली जातियो! हमने लाखों वर्ष समस्त धरती पर राज्य किया, परन्तु जब हमें ऐश्वर्य के मद ने घेरा,

हमने ईश्वर की सत्ता को भुलाकर अन्याय-परायणता पकड़ी। अपने भाइयों की पाँच ग्राम तक की माँग पर ठोकर मारकर कहा—'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव !' उस समय हमारा अधः-पतन और सर्वनाश हो गया। आज हमारे ऐश्वर्य की कहानी पर कोई विश्वास भी नहीं करता। यदि तुम भी उस प्रभु से न डरोगे, तो तुम्हारी न जाने क्या अवस्था होगी ? तुम्हारी कदाचित् कथा भी शेष न रहे।"

नवयौवन का मद उतरना वृद्धावस्था का भागधेय है। अस्तु, जब मनुष्य को पुरुषार्थ से ऐश्वर्य प्राप्त हो, तो अपने से बड़े इन्द्र का स्मरण करे और वृद्ध पुरुषों की संगति में बैठकर विनय का पाठ सीखे।

इस प्रकार मन्त्र का भाव यह हुआ—"दक्षिण दिशा अर्थात् ऐश्वर्य-काल में हम परमेन्द्र का स्मरण करें। उस मदापहारिणी शक्ति का, जो कुटिल मार्ग में चलने से बचाती है, स्मरण करें। वयोवृद्ध ज्ञानी लोगों की संगति में बैठें। वे हमें ठीक मार्ग पर पहुँचा-कर हमारी अभिलाषा पूरी करेंगे। उस प्रभु के ऐश्वर्य को नमस्कार हो ! जो हमसे द्वेष करता है, जिसे हम द्वेष करते हैं, उन्हें तुम्हारे न्याय पर छोड़ते हैं।"

अथ प्रतीची दिक्

ओ३म्। प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥३॥

अर्थ—(प्रतीची) पीठ-पीछे की (दिक्) दिशा है (वरुणः)

अन्तर्यामी वरणीय अथवा वरणशील भगवान् (अधिपतिः) अधिपति हैं, जो (पृदाकू) छिपकर घात करनेवालों से (रक्षिता) बचानेवाले हैं (अन्नं) अन्न अर्थात् न्यूनशक्तिवाले (इषवः) इस बात का उपदेश देनेवाले साधनीभूत बाणरूप हैं। आगे पूर्ववत्।

जिसने ये दो कोटियाँ पार कर ली हैं, जो अपना पूर्ण पुरुषार्थ कर चुका और फिर भी अभिमान में नहीं भरा, वह प्रभु का सच्चा भक्त है। वह उससे सहायता पाने का अधिकारी है। भगवान् भक्त-वत्सल अवश्य हैं, वे भक्तों का परित्राण करते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं; परन्तु भक्त कौन है, यह भी तो जानना चाहिए! भक्त वह है जो अपना पूर्ण उद्योग करके अभिमान में नहीं भरता। ऐसे मनुष्यों को 'प्रतीची दिक्' से, पीठ-पीछे से, अर्थात् अज्ञातरूप से जो आक्रमण करते हैं, उनसे बचानेवाला प्रभु है। यदि तुमने पुरुषार्थ में कोई न्यूनता नहीं रखी, अपनी और अपने आश्रितों की रक्षा का जितना उपाय तुम कर सकते थे, कर चुके और फिर भी तुम अभिमान में नहीं भरे, तो फिर अब निर्भय हो जाओ। 'प्रतीची' अर्थात् पीठ-पीछे की दिशा का अधिपति वरुण है। वह छिपे-से-छिपे घात को भी पकड़ लेता है। उसके अनन्त गुप्तचर हैं। हर पदार्थ के पीछे छिपा वह तेरे घात को देख रहा है। छिपानेवाला उसमें छिप रहा है, फिर उससे कैसे छिप सकता है? बड़े-से-बड़े 'पृदाकु' अर्थात् छिपकर हिंसा करनेवाले से वह तुम्हें बचानेवाला है। वरुण की महिमा वेद ने यों गाई है—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वंचति यो निलायं चरति यः प्रतंकम्।
द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥
उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिवस्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अतिपश्यन्ति भूमिम्॥

—अथर्व० का० १८, सू० २, मं० ४

अब प्रश्न उठता है कि संसार में यह उपदेश हमें कहाँ से मिलता

है ? उत्तर है 'अन्नमिषवः' अर्थात् अन्याय-पूर्वक घात करनेवालों को उनका अन्याय किस प्रकार मार देता है, इसका पाठ उससे मिल जायगा, जो जिसका अन्न है, अर्थात् जो अपने अन्न को अन्याय से खाता है, वह अन्याय-पूर्वक खाया हुआ अन्न उसको खा जाता है। वरुण का नियम ऐसा ही है, और वरुण से कौन छिप सकता है ? परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'अन्न' शब्द का अर्थ केवल अनाज नहीं है। प्रजा राजा का अन्न है, सेवक स्वामी का अन्न है, यह विश्व विश्वपति का अन्न है। इसीलिए कहा गया है— "अत्ता चराचरग्रहणात् ।" तात्पर्य्य यह कि जो जिससे गुणों के कारण अधिकार में कम है, वह उसका अन्न है। किन्तु उस अन्न का सदुपयोग पुष्टि का कारण होता है और अन्याय्य उपयोग अत्ता के विनाश का कारण होता है। इसलिए जो मनुष्य अपनी 'प्राची दिक्' अर्थात् अपने पुरुषार्थ में पूरा है तथा 'दक्षिणा' अर्थात् ऐश्वर्य्य की दिशा में विनीत है, टेढ़ी चाल से बचा हुआ है, वह परमेश्वर के न्याय पर भरोसा करके निर्भय रहे। छिपे आघात करनेवाले वरुण से छिपे नहीं हैं। यदि किन्हीं कर्मों के कारण उन्हें तत्काल दण्ड न भी मिले, तो भी अन्त में उन्हें उनका अन्न ही खा जायगा। उदाहरण के लिए, डाकू जब डाका डालते हैं तो पहले कुछ काल मिले रहते हैं, परन्तु पीछे जब लूट का माल संचित हो जाता है, तो बँटवारे के समय जिस स्वार्थ-भावना के वशीभूत होकर उन्होंने निरपराध लोगों का धन लूटा था, वही दुर्भावना उनके परस्पर कलह का कारण बनती है और इस प्रकार उनका समूल नाश कर देती है। जो राजा प्रजा के साथ अन्याय करता है, उसे या तो प्रजा मार देती है और यदि कदाचित् वह प्रजा को मार दे, तब भी उसका राजत्व नष्ट हो जाता है क्योंकि फिर वह राजा किसका रहा ?

इस प्रकार सारे मन्त्र का आशय यों हुआ—पुरुषार्थ-पूर्वक प्राप्त ऐश्वर्य को पाकर भी यदि हम मद में न आएँ, तो हमें स्मरण रखना

चाहिए कि विपत्ति में हमारा सबसे बड़ा सहायक है प्रतीची दिक्, अर्थात् पीठ-पीछे की दिशा से अन्तर्यामी वरुण हमारी पीठ पर है। वह हिंसक लोगों से हमारी रक्षा करनेवाला है। 'अन्ततो गत्वा' अन्यायी का सर्वनाश होता है, यह हम कभी न भूलें। अन्न इस बात का उपदेश देनेवाले, साधन हैं। उस अन्तर्यामी को नमस्कार, उसकी अन्याय-विघातिनी शक्ति को नमस्कार, जिनको उसने हमारे अधिकार में सौंपा है; जिनसे हम गुणों में अधिक हैं, उन्हें भी नमस्कार, इन सबको नमस्कार ! जो हमसे द्वेष करे, जिसे हम द्वेष करें, वह सब प्रभु के न्याय के अर्पण हैं।

अथोदीची दिक्

ओ३म्। उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताऽशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥

अर्थ—(उदीची) निस्सहायावस्था में सहायता की प्राप्ति के लिए ऊपर को मुँह उठानेवाली (दिक्) दिशा है (सोमः) सोम-रूप भगवान् (अधिपतिः) अधिपति हैं जो कि स्वजः अपने में ही प्रादुर्भूत होकर (रक्षिता) रक्षा करनेवाले हैं (अशनिः) विद्युत् अथवा भक्ति-विद्युत्-सम्पन्न पुरुष (इषवः) इस प्रयोजन की पूर्ति करानेवाले बाण-रूप सहायक हैं। आगे पूर्ववत्।

प्यासे चातक की नाईं भक्त ऊपर को चोंच उठाए तरसती हुई आँखों से कह रहा है—'एक बूँद बरसे !' बाहर के शत्रुओं के आघात से नहीं, किन्तु आन्तरिक निराशा और उदासीनता से तड़पता हुआ घायल चिल्लाकर कह रहा है—'कोई मरहम लगा जाए !' उत्तर

मिलता है--सोमरस का पान कर, घाव भर जायँगे, नई शक्ति का सञ्चार हो जायगा, तेरा कायाकल्प हो जायगा, नवीन जीवन लहलहा उठेगा। घायल कहता है—बड़ी दूर की कहते हो; सोम तो, सुना है, कहीं पहाड़ों में पैदा होता है। उत्तर मिलता है—भोले! इस व्याधि की औषध वह 'परमसोम' 'स्वजः'—तेरे अन्दर ही प्रादुर्भूत होनेवाला—है। उसे कहीं ढूँढने नहीं जाना। न वह पैदा होता है; वह तो अजन्मा है। परन्तु थोड़े-से यत्न से झाँकना सीख, वह तुझमें है अथवा तू उससे है। ऐसे सोम को ढूँढने कहाँ जाना? इसी सोम के विषय में उर्दू कवि ने कहा है--

दिल के आईने में है तस्वीरे-यार,
जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली।

पर यहाँ गर्दन भी तो झुकानी नहीं पड़ती। इतना याद कर ले कि वह तेरे पास है और वह तुझे मिल गया।

निस्सहायता की, आन्तरिक आघातों की, अवसाद की यह दशा, जिसमें मनुष्य चातक की भाँति किसी परमशक्ति का सहारा ढूँढता है, पुरुषार्थ करके थक गया है और उसने कोई कसर नहीं उठा रक्खी, फिर भी निराशा के बादल घेरे हुए हैं,—'उदीची दिक्' है। इस अवस्था में अब वह अपने से ऊँची किसी शक्ति के लिए प्यासा है।

परन्तु हमें भूलना नहीं चाहिए कि जहाँ वह अग्नि है, तेजःपुञ्ज है, प्रकाशस्वरूप है, शुष्क है, वहाँ सोम भी है। सोम क्या है, यह शतपथब्राह्मण में कहा है—'यदेवशुष्कं तदाग्नेयं, यदेवार्द्रं तत्सोम्यम्।' वह परम शुष्क भी है, परम सरस भी; परमाग्नि भी है, परम सोम भी।

परन्तु इस अध्यात्म-प्रकरण में वह पर्वतों पर उगनेवाली सोम की लता नहीं। जो ऐसा समझते हैं, उनके विषय में वेद कहता है—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥

'भला इस भोले मनुष्य को तो देखो ! पीसनेवाले एक बूटी का रस निचोड़कर ले आए और यह समझता है कि मैंने सोमरस पी लिया। ऐसा पार्थिव, ऐसा भोला आदमी उस परम सोमरस का आस्वादन कब करता है, जिसका तत्त्व ब्रह्मवित् जानते हैं !'

परन्तु एक दशा है, जब साधारण-से-साधारण मनुष्य भी उस रस का क्षण-भर के लिए पान करते हैं। वह है—उदीची दिक्—उन्मुख-दर्शिनी दुःखपराधीन भक्त की करुणावस्था।

परन्तु उस सोम-तत्त्व का उपदेश करनेवाला इस संसार में कौन है ?—'अशनि'; अर्थात् 'बिजली'। यह वह पदार्थ है, जो भौतिक पदार्थों में सर्वव्यापकता का कुछ आभास दिखा सकता है। कोई भौतिक पदार्थ इससे खाली नहीं, परन्तु बिना यत्न के इसका प्रादुर्भाव नहीं होता।

इस प्रकार मंत्र का भाव यों हुआ—"निस्सहाय होकर जब हम अपने से ऊँची किसी महाशक्ति की ओर देखते हैं, उस समय हम रस के सागर, करुणा के भण्डार, उस परम सोम को न भूलें। उस समय भी वही हमारा रक्षक है। वह बाहर नहीं, अन्दर ही है। बिजली हमें दिखा रही है कि थोड़ा-सा रगड़ो और अपने अन्दर ही उसे पा जाओगे।"

"उस परम सोम को नमस्कार ! जो विद्युत् के पुञ्ज बनकर हमें अपने अन्दर उसे पाने का मार्ग बताते हैं, उन परम-विद्युत्-शास्त्र के पण्डितों को नमस्कार ! हम जिससे द्वेष करते हैं, जो हमसे द्वेष करता है, उसे उसकी न्याय की दाढ़ के अर्पण करते हैं।"

अथ ध्रुवा दिक्

ओ३म् । ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

अर्थ—(ध्रुवा) स्थिरता की (दिक्) दिशा है (विष्णु) व्याप्त होकर सबको संगठन में रखनेवाला भगवान् (अधिपतिः) अधिपति है (कल्माषग्रीवः) रंगबिरंगे वनस्पति जिसकी ग्रीवा-रूप हैं (रक्षिता) जो कि रक्षक है। (वीरुधः) नीचे से ऊपर उठनेवाले वनस्पति तथा तादृश गुणयुक्त पुरुष (इषवः) प्रयोजनपूर्ति में सहायक बाण-रूप हैं। आगे पूर्ववत्।

हमारे हृदय में तरङ्गें उठती हैं और विलीन हो जाती हैं। सद्-भावनाएँ आती हैं और आचरण का रूप पाने से पहले ही विदा हो जाती हैं। हे भगवान् ! इन भावनाओं को स्थिर कैसे करें ?

भगवान् कहते हैं—परस्पर एक-दूसरे की सहायता करो। जिस भावना को स्थिर करना चाहते हो, उस भावना के रसिक इकट्ठे होकर एक को बड़ा बना लो; जिसमें वह भावना प्रबल हो, फिर उसके शासन में चलो। तब देखो, भावना कैसी ध्रुव होती है। इसी का नाम है—'ध्रुवा दिक्'।

इसी ध्रुवता की दिशा में 'विष्णु' अर्थात् जगत् के समस्त पदार्थों में व्याप्त होकर उन्हें संयोग की अवस्था में रखनेवाला प्रभु इस दिशा का 'अधिपति' है। देखो, उसकी सृष्टि में क्या लीला हो रही है। वह वर्षा करता है। मानो उसकी आज्ञा होती है—गाओ ! बस फिर क्या है ! लाल, पीले, नीले, हरे, नारंगी, बैंगनी सभी तो तत्काल सिर

उठाकर खड़े हो जाते हैं। फिर वर्षा होती है, हरियावल में फूल लग जाते हैं। शरीर सबके हरे हैं, पर ग्रीवाएँ 'कल्माष' हैं—रंग-बिरंगी और वे 'ग्रीवा' का काम कर रही हैं। ग्रीवा का काम है बोलना (उणादि १।१५४)। वे सब बोल रहीं। क्या बोल रही हैं? सब रंग-बिरंगी ग्रीवाओं से एक ही मूक-शब्द निकल रहा है—"देखो, उसने हमें हँस-हँसकर सबका चित्त प्रसन्न करने को कहा है। हम सब रंगों का भेद भुलाकर उसकी आज्ञा मान रही हैं, हमारा शासनकर्ता 'ओ३म्' है। उसने हमें पृथिवी की छाती फाड़कर उलटी ओर, अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर चलने की आज्ञा दी। हम वैसा ही करती हैं। इसीलिए हमारा नाम 'वीरुध्' है। ऊपर से नीचे गिरना अति सरल है, अनायास-साध्य है; किन्तु हमें अति कठिन आज्ञा हुई है। उतरना सरल है, चढ़ना कठिन है। परन्तु हम उस आज्ञा के पालन में भी तत्पर हैं। तुम अपनी भानवाओं को दृढ़ करना चाहते हो। रंग-रूप का भेद भुलाकर बड़ों के शासन में चलो, कठोर आज्ञा का पालन करो, नीचे से ऊपर चढ़ो, यही ध्रुवता का मार्ग है।"

इस प्रकार मन्त्र का आशय यह हुआ—

"हे प्रभो! अपने उद्योगों को स्थिर तथा सफल बनाने के लिए हम तेरी विष्णुशक्ति को सदा याद रक्खें। ये संसार-भर के रंग-बिरंगे वनस्पति तेरी वर्षारूप आज्ञा पाकर एक-साथ सिर उठाते हैं, एक-साथ खिलकर रंग-बिरंगे कण्ठों से तेरा राग गाते हैं। हम भी रंग-भेद भुलाकर तेरा राग गाना सीखें। नीचे से ऊपर चलें। तेरी विष्णु-शक्ति को नमस्कार! तेरे रंग-बिरंगों से एक राग निकालनेवाली संवाद-शक्ति (Power of Harmony) को नमस्कार! जिन्होंने नीचे से ऊपर चलना सीखा है, उन वनस्पति-सदृश महापुरुषों को नमस्कार!"

यहाँ विष्णुशक्ति के विषय में कुछ मनोरञ्जक बातों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। यज्ञ का अर्थ है संगति-करण। 'यज्ञ' और 'विष्णु' शब्द 'शतपथ ब्राह्मण' में पर्यायवाची रूप से आए हैं। इसलिए विष्णु

का अर्थ है 'व्यापक होकर संगतिकरण करने की शक्ति'। इस 'संगठन-शक्ति' को ही पुराणों में भी 'विष्णु' के नाम से कहा गया है। परन्तु उस मूल को न समझकर पुराणकारों ने गपोड़ों से तथा अश्लील कथाओं से ऐसा लाद दिया है कि ऋषि दयानन्द का 'विषसंपृक्तान्न' शब्द इनके लिए पूर्णरूपेण चरितार्थ होता है। तो भी इस पौराणिक अलंकार के मर्म का यहाँ थोड़ा-सा उद्घाटन करते हैं—

पुराण का विष्णु शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी है। मर्म की बात यह है कि यहाँ अलंकार से संगठन का स्वरूप दिखाया गया है। वही संगठन संसार में सफल होता है, जिसके पास 'शंख' अर्थात् अपनी आवाज को संसार में अधिक-से-अधिक मनुष्यों तक पहुँचाने के साधन—समाचार-पत्र, व्याख्यान-दाता, उपदेशक आदि अधिक हों। दूसरे, जिसके पास 'चक्र' अर्थात् बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, रेलगाड़ी, मोटर, व्योमयानादि चक्र अधिक हों। तीसरे, 'गदा' अर्थात् शत्रुओं के ताड़न का दण्ड अर्थात् युद्ध-सामग्री अधिक हो। चौथे, 'पद्म' अर्थात् लक्ष्मी का निवास-स्थान, फलतः कोष अधिक हो। इन चार के बल पर संगठन चलता है। साथ ही वह संगठन 'लक्ष्मीपति' हो, अर्थात् धनवानों को दबाकर रखता हो। लक्ष्मी क्षीर-सागर में निवास करती है। आज तो क्षीर-सागर के स्थान पर रुधिर-सागर, सुरा-सागर, चाय-सागर, कॉफी-सागर का राज्य है, लक्ष्मी कहाँ रहे? विष्णु शेष-शायी हैं—किसी भी सङ्गठन के आय और व्यय की तुलना कर लो, जिसमें कुछ शेष रहे, वही सङ्गठन जीता रहता है। हमारा शरीर एक छोटा-सा विष्णु है—मुख इसका शङ्ख है, भुजाएँ गदा हैं, रुधिर का आवर्तन इसमें चक्र है और उदर में कोष का संचय होता है, अतः वह पद्म है। किन्तु जब इसमें शक्ति की आय से व्यय अधिक हो जाय, उसी क्षण मृत्यु हो जाती है।

विजिगीषा (Ambition) गरुड़ है, उसी पर चढ़कर सङ्गठन विजय-यात्रा के लिए निकलता है; किन्तु विजय-यात्रा के लिए निकलते ही

शेष (Surplus) खाली होने लगता है। इसलिए त्रैलोक्य-नाथ वही है, जिसके राज्य में वे दोनों वैरी, सर्प और गरुड़, शेष और विजिगीषा, Surplus और Ambition वैर छोड़कर प्रेमपूर्वक रहें। शेष को सर्प इसलिए कहा क्योंकि वह रेंग-रेंगकर बड़े यत्न से संचित होता है।

इस प्रकार इन आलङ्कारिक बातों को देवता-विशेष बनाकर पौराणिकों ने न जाने कितने गपोड़े पुराणों में भर दिये हैं। परन्तु वस्तुतः 'विष्णु-शक्ति' नाम परमात्मा की 'संगठन-शक्ति' का है।

अथोर्ध्वा दिक्

ओ३म्। ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥६॥

अर्थ—(ऊर्ध्वा) उन्नत होने की (दिक्) दिशा है (बृहस्पतिः) बड़े-बड़ों से भी बड़ा भगवान् (अधिपतिः) अधिपति है (श्वित्रः) जोकि श्वेत, शुभ्र ज्योतिर्मय है (रक्षिता) वह रक्षक है (वर्षम्) वर्षा तथा सुखवर्षी पुरुष (इषवः) इस उद्देश्य में इच्छापूर्ति करनेवाले बाणरूप सहायक हैं। आगे पूर्ववत्।

मैं नीचे से ऊपर चढ़ता हूँ। यहाँ के दृश्य निराले हैं। यहाँ रङ्ग-बिरङ्गे रङ्ग नहीं रहे। यहाँ एक 'श्वित्रः' अर्थात् श्वेत रङ्ग हो गया है। सातों रङ्ग अन्त को यहीं तो इकट्ठे होते हैं। जो 'बृहताम्पति' है, उसका यही लक्षण है—'यत्र विश्वम्भवत्येकनीडम्'—'जिसमें सब परस्पर-विरोधिनी शक्तियाँ एक हो जाती हैं।' हे प्रभो! बड़ा बनने के लिए, ऊँचा उठने के लिए, मैं समन्वय करना सीखूँ। सात रङ्गों

को मिलाकर एक रंग बनाना सीखूँ। इस दिशा के तत्त्व खोलनेवाले वर्षा के बिन्दु हैं। वे तप के सहारे ऊँचे चढ़े हैं। तपस्विराज सूर्य के संग से तपकर ऊँचे चढ़ गए, पर यह ऊँचा चढ़ना उन्हें भाया नहीं। उन्होंने कहा—बड़ा तो वह है, जो छोटों के लिए अपने-आपको मिट्टी में मिला देता है। वे वर्षा की नन्हीं बूँदें बनकर बरस पड़े। फिर क्या था! वानस्पत्य जगत् ने भी आज्ञा-पालन में कोई कसर उठा न रक्खी। अनन्त ग्रीवाओं से मिलकर, मूक किन्तु हृदय जकड़ लेनेवाली भाषा में खूल गला फाड़-फाड़कर गाया। जब तक मुरझा न गए, गाते गए। ऊर्ध्वा ध्रुवा इस प्रकार साथ-साथ चलती हैं।

"हे बृहस्पते! हमें ऊँचा चढ़ने का तत्त्व सिखाओ। इस दिशा के तुम्हीं अधिपति हो। हम जहाँ एक-देशी एक-रंगी किरणों का रंग देखते हैं, वहाँ तब तक दम न लें, जब तक आपका शुद्ध, शान्त, ज्योतिर्मय, श्वेत, सर्व-रंग-समन्वयसम्भूत रंग न देख लें। हमें ऊँचा चढ़ना सिखाने के लिए आपने वर्षा के बिन्दु भेजे हैं। आपको नमस्कार! आपकी श्वेत ज्योतिर्मय शक्ति को नमस्कार! जिन्होंने आपके वर्षा के बिन्दुओं से ऊपर चढ़कर धरती पर गिरे हुए क्षुद्र जीवों के लिए मिट्टी में मिलना सीखा है, उन ऊर्ध्वतम महापुरुषों को नमस्कार! जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, हम उसे अन्त में आपकी न्याय की दाढ़ में रखते हैं।"

अथोपस्थानम्

मनसा-परिक्रमा-मन्त्रों में द्वेष पर विजय द्वारा अहिंसा का प्रतिपादन हो गया। अब तम पर विजय द्वारा प्रकाश की प्राप्ति दिखाकर सत्य का वर्णन आरम्भ होता है। संसार-भर के साहित्य में झूठ की अन्धकार से, तथा सत्य की प्रकाश से उपमा दी गई है, इसमें कोई बात बताने की नहीं है। असत्य के दो भाग हैं—एक 'मिथ्या' और

दूसरा 'अज्ञान'। अर्थात् एक, पदार्थों का यथार्थ स्वरूप ज्ञात न होना। दूसरा, यथार्थज्ञान को यथार्थरूप में प्रकाश न करना। इन दोनों को ही अन्धकार कहा जाता है। ये दोनों ही एक-दूसरे का कारण बनते हैं। जो आदमी सत्यवादी है, वह विश्वास-पात्र होने के कारण शीघ्र ही ज्ञानियों का प्रेमपात्र बनकर अज्ञान से छूट जाता है। दूसरी ओर यथार्थ-ज्ञानी यदि कुसंगवश मिथ्यावादी भी हो, तो भी मिथ्या-भाषण की निस्सारता का यथार्थ-ज्ञान होने के कारण कालान्तर में इस दोष से छूट ही जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रगाढ़ तत्त्वज्ञान में एक स्वाभाविक उत्तेजना-शक्ति है, जो मनुष्य को तेजस्वी, निर्भय तथा स्पष्टवादी बना देती है। जब किसी मनुष्य को किसी विद्या के किसी गहरे अनाविष्कृत तत्त्व का ज्ञान होता है, तो उस विषय में प्रचलित मिथ्याज्ञान का खण्डन करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति उसे तेजस्वी बनाकर बड़े-से-बड़े कष्टों का सामना करने के लिए तत्पर कर देती है। ऊँचे दर्जे का ज्ञान तत्त्वज्ञान-प्रचार की प्रबल प्रेरणा को भी स्वयं ही उत्पन्न कर देता है, यद्यपि कदाचित् यह स्पष्ट रूप से न बताया जा सके कि ऐसा क्यों होता है। जब कोई मनुष्य किसी ऐसे गहरे तत्त्व को पाता है, जिसके न जानने से सहस्रों मनुष्य कष्ट पा रहे हों, तो न जाने कौन-सी शक्ति उसके कान में कह देती है कि 'उठ ! तुझे आज एक सन्देश मिला है। इसका जी-जान से प्रचार कर और इसमें ही मिट जा।' वह स्वयं भी अनुभव करता है कि आज मेरे अन्दर एक ज्योति प्रादुर्भूत हो गई है जो मुझमें समा न सकेगी; उसके प्रकाशन के बिना मानो मैं फटा जा रहा हूँ। इसी सत्य की महिमा का अगले तीन मन्त्रों में वर्णन है—

ओ३म्। उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥१॥

अर्थ—(वयम्) हम (तमसः) अन्धकार से (परि) परे (उत्)

ऊपर उठें और (स्वः) परमात्मा के सुखस्वरूप को (पश्यन्तः) देखते हुए अर्थात् अनुभव करते हुए (उत्तरम्) और अधिक ऊँची अवस्था को (आगन्म) प्राप्त हों और फिर अन्त में (सूर्यम्) सबके अभिसरणीय अर्थात् प्राप्त करने योग्य उस (उत्तमम्) सबसे श्रेष्ठ (देवत्रा) देवों के त्राणकर्ता (देवं) दिव्य गुणमय (ज्योतिः) तेज अर्थात् परमात्मा को (अगन्म) प्राप्त हों।

इस मन्त्र में तीन अवस्थाओं का वर्णन है—

तमसः परि=उत्

स्वः पश्यन्त=उत्तर

देवं सूर्यम्=उत्तम

"हे प्रभो ! हम पर ऐसी कृपा कीजिए कि हम अन्धकार से ऊपर उठें, आपके 'स्वः' (सुखमय) स्वरूप की ओर चलें, उसको देखते हुए अन्त को 'देवमार्ग' से 'परम सूर्यदेव' को प्राप्त हों।"

जब मनुष्य प्रथम-प्रथम मिथ्या ज्ञान से छूटता है और प्रकृति का यथार्थ स्वरूप जानने लगता है, उस अवस्था का नाम 'उत्' अर्थात् ऊपर की ओर है। उसके पश्चात् जब उसे आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होने लगता है, जब वह जान लेता है कि संसार-भर की विद्याओं का ज्ञान भी निरर्थक है—जब तक उससे जीवों का क्या लाभ है, यह ज्ञान न हो, तथा संसार के कल्याण के लिए उन्हें प्रयोग में न लाया जाय, भोग के ज्ञान का कुछ लाभ नहीं। जब तक भोक्ता का परिष्कार न हो, तब तक वह 'उत्तर' कोटि में प्रवेश नहीं करता। उसके पश्चात् तब वह जान लेता है कि भोक्ता के सब परिष्कार तब तक अचिर-स्थायी होते हैं, जब तक वह ब्रह्म-साक्षात्कार की दृढ़ चट्टान पर न खड़े हों, और इस आध्यात्मिक भूख को मिटाने के लिए जब वह ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, तब समझो उसने 'उत्तम सूर्य ज्योति' को पा लिया। इस प्रकार—

प्रकृति का तत्त्वज्ञान=उत्

आत्मज्ञान =उत्तर
परमात्म-ज्ञान =उत्तम, हुआ।

अब मन्त्र का भाव यों हुआ—

"हे प्रभो ! हम अन्धकार से उठते हुए, 'स्वः' (परमसुख) की ओर चलते हुए, पहले 'उत्' अर्थात् प्रकृति का, फिर 'उत्तर' अर्थात् जीव की ज्योति का ज्ञान प्राप्त करें, फिर अन्त को देव-मार्ग पर चलते हुए सबके 'सूर्य' (अभिसरणीय=प्राप्ति-योग्य) संसार-सार, उस परम, उस उत्तम ज्योति को प्राप्त हों।"

ओ३म् । उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥२॥

अर्थ—(उत् उ)ऊपर-ही-ऊपर, अर्थात् उच्च से भी उच्च (त्यम्) उस (जातवेदसम्) अन्तर्यामी (सूर्यम्) अभिसरणीय (देवम्) देव के पास (विश्वाय) सम्पूर्ण (दृशे) दर्शन के लिए अर्थात् परमसाक्षात्कार के लिए (केतवः) उसकी इस संसार में खिली हुई अनन्त किरणें हमें (वहन्ति) पहुँचा देती हैं।

अब प्रश्न उठता है कि यह 'उत्' से उत्तर और उत्तर से उत्तम—ऊपर-ही-ऊपर चढ़ने—का क्रम कैसे चलें ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उस 'जातवेद' अर्थात् सर्वज्ञ, सबके अभिसरणीय देव की ओर ऊपर-ही-ऊपर ले-जानेवाली उसकी अनन्त किरणें खिली पड़ी हैं; उसकी ओर ले-जानेवाले अनन्त मार्गों पर अनन्त झण्डियाँ गड़ी हुई हैं। किसी एक को पकड़ लो और वह तुम्हें विश्व-दर्शन तक ले जावेगी। सब झण्डियों पर एक ही शब्द लिखा है—'उसकी ओर'। सबका संकेत उसी की ओर है। इसीलिए उनका नाम 'केतु' है। इसी आशय को लेकर किसी कवि ने कहा है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिदं,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमतमिदम्पथ्यमिति च।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

ओ३म् । चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥३॥

अर्थ—(देवानाम्) देवों की (चित्रम्) यह विचित्र (अनीकम्) सेना (उदगात्) मेरे सामने व्यूह-बद्ध उदय हुई है । यह देव-सेना ही (मित्रस्य) मित्र (वरुणस्य) वरुण (अग्नेः) तथा अग्नि की (चक्षुः) तत्त्वोपदेशिका है, और वह इस तत्त्व का उपदेश देती है कि (द्यावापृथिवी) धरती-आकाश (अन्तरिक्षम्) और अन्तरिक्ष इन सब में ही (सूर्यः) सबका अभिसरणीय अर्थात् प्राप्त करने योग्य (आत्मा) सततगामी महाशक्ति [प्रभु] (आप्रा) आपूर्ण है (स्वाहा) आहा ! क्या अच्छी बात है !

उस प्रभु की सृष्टि में विज्ञान की जितनी शाखाएँ हैं, उनमें से किसी एक को भी पकड़कर जब मनुष्य विश्वदर्शन की अवस्था तक पहुँच जाता है, उस समय वह जिस आनन्द और विस्मय के अद्भुत सम्मेलन में पहुँच जाता है, उसका वर्णन इस मन्त्र में करते हैं । इस अवस्था में पहुँचे हुए मनुष्य के लिए एक देव-सेना उसकी आँखों के आगे व्यूह-कौशल दिखा रही होती है । उस कौशल को देखकर वह आनन्द और विस्मय के साथ चिल्ला उठता है 'चित्रम्' देखो ! देखो !! यह चेतावनी देनेवाली विस्मय की खान तुम्हें सचेत कर रही है—चित्रम् !!!

पर इस 'चित्रम्' का आश्चर्य एक मूर्ख का आश्चर्य नहीं । मूर्ख के आश्चर्य में उसे कुछ नहीं सूझता । विद्वान् के आश्चर्य में उसे इतनी बात सूझती है कि किस-किस पर आश्चर्य करे यह नहीं सूझता । यही अवस्था 'मित्र' की और यही 'वरुण' की है । 'मित्र' विद्वान् लोग हैं,

जो संसार में स्नेह उत्पन्न करते हैं, अर्थात् ललित कलाओं के पण्डित। वरुण वे हैं, जो पृथिवी पर शासन करते हैं, जिनका काम मनुष्यों की इच्छा-शक्ति से पड़ता है। 'अग्नि' वे लोग हैं, जो ज्ञान की वृद्धि में लगे रहते हैं। इन सबको अन्त में एक ही बात दिखाई देती है—चित्रम्।

छान्दोग्यकार ऋषि की भाँति संगीत-प्रेमी विद्वान् को इस विश्व में एक संगीत सुनाई दे रहा है। उस प्रभु की सृष्टि में बिखरे हुए स्वर-समुदाय को उसने एक विशेष क्रम से इकट्ठा करके वाद्य में बसाया अथवा कण्ठ से गाया, परन्तु उसे पूरा आनन्द न आया। फिर उसने विश्व के राग में अपना स्वर मिलाया। समय की रागिनी छेड़ी, अपना हृदय भी तन्मय कर दिया। अब वह गा रहा है और अपनी कृति पर स्वयं आश्चर्य कर रहा है। वह अनुभव कर रहा है कि आज वह नहीं गा रहा, आज तो वह स्वयं भी एक वाद्य बना हुआ है। आज तो उसे वाद्य बनाकर कोई और ही गा रहा है। वृक्ष में संगीत, पत्तों में संगीत, फूलों में संगीत, वन में संगीत, पर्वत में संगीत, गिरि-गुहा में संगीत, आकाश के तारों में संगीत, शरीर की रग-रग में संगीत। चारों ओर संगीत छाया हुआ है। यह सारी संगीत-शृंखला उसके कण्ठ-संगीत का साथ दे रही है। एक-एक स्वर एक देव है। परन्तु वे अस्तव्यस्त नहीं घूम रहे। किन्तु यह तो एक—देवानाम् अनीकम्—देवों की व्यूहबद्ध सेना है। यह क्या कहने आई है? कहने आई है कि इस सेना की व्यूह-रचना के पीछे सेनापति छिपा हुआ है। तू सेना के कौशल पर मस्त है, यह सेना तो 'चक्षुः' हैं, सेनापति का दर्शन कराने अथवा उसकी कहानी कहने आई है। कुछ तू भी सुन! उत्तर मिलता है—सुनता हूँ—'चित्रम्'!

उधर 'वरुण' को देखिए! मनुष्य-समाज के कल्याण के लिए एक आन्दोलन उसने उठाया। उसमें अनेक विघ्न आए। वह घबराया भी नहीं, प्रतिपक्षियों पर झुँझलाया भी नहीं, सदा अपना दोष ढूँढकर

और अधिक तप द्वारा उसे जीतकर आगे बढ़ता गया। अब न जाने क्या बात है! कल जो नदियाँ उसका मार्ग रोक रही थीं, आज उसका खेत सींच रही हैं! कल जो पहाड़ उसके मार्ग के प्रतिबन्धक थे, आज उसके द्वार के पहरेदार हैं! कल जो पवन उसके घर दीया बुझा रहा था, आज पंखा-कुली बना हुआ है! कल जिन किरणों से मुँह झुलस रहा था, वे आज फुलवारी खिला रही हैं! कल सारा विश्व उसका शत्रु था। आज यह काया किसने पलट दी है? यह देव-सेना, जो कल दैत्य-सेना दीखती थी, मेरे सामने क्या सन्देश लाई है? उत्तर मिला है—'चक्षुः'?

फिर वही प्रश्न-परम्परा और फिर वही पर्यवसान—चित्रम्! चलिये 'अग्नि-शाला' में चलें। ये ज्योतिःशास्त्र के 'अग्नि', अग्रणी, Pioneer हैं। आपको सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, कुछ चमकने वाले पिण्ड-मात्र प्रतीत होते हैं। किन्तु इनसे पूछिये। इनके लिए यह एक देव-सेना है, जो मर्यादा में बँधी हुई व्यूह-रचना कर रही है। ये आज ही बता सकते हैं कि दस वर्ष पीछे अमुक नक्षत्र कहाँ होगा। इनकी सब खोज की भी एक ही समाप्ति है—'चित्रम्'।

इस वनस्पति-शास्त्री से पूछिये। यह वृक्ष का पत्ता आपके लिए एक पत्ता है। इनके लिए एक पुस्तक है—एक देव-सेना है।

अग्नि, मित्र, वरुण सब कह रहे हैं, हमें 'चक्षुः'—आँख—मिल गई। पूछते हैं—कौन-सी? बोले, देव-सेना। कहते हैं कि इस आँख से देखते क्या हो? उत्तर मिलता है—'चित्रम्'।

यह आश्चर्यजनक देव-सेना अपना सन्देशा कह गई—अपना दर्शनीय लिखा गई। देखा तो यह देखा कि इस सारे स्थावर-जङ्गम के पीछे एक ही सततगामी, सबका सूर्य (अभिसरणीय) परमात्मा द्यावापृथिवी में ओत-प्रोत है।

स्वाहा—वाह! वाह!!

अथादैन्यव्रतोपायनम्

ओ३म् । तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।
शृणुयाम शरदः शतम् । प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः
स्याम शरदः शतम् । भूयश्च शरदः शतात् ॥

अर्थ (१)—(तत्) वह ब्रह्म (चक्षुः) सबका मार्गदर्शक है तथा (देवहितम्) विद्वानों का परम हितकारक है, (पुरस्तात्) वह सबसे प्रथम (उच्चरत्) सबसे ऊपर विद्यमान (शुक्रम्) तेजोमय शक्ति है। हम उसे (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (पश्येम) ज्ञान-चक्षु से देखें। उसकी कृपा से (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (जीवेम) जीवें। उसके गुण (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (शृणुयाम) सुनें। उन्हीं गुणों को (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (प्रब्रवाम) दूसरों को उपदेश करें, जिससे हम (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (अदीनाः) अदीन (स्याम) हों, और (शतात्) सौ से (भूयः) अधिक (शरदः) वर्षों तक (च) भी अदीन होकर रहें।

यह तो हुआ आध्यात्मिक अर्थ। इसी का सौरचक्र-सम्बन्धी आधिभौतिक (२) अर्थ है—

तत् वह (पुरस्तात्) सामने (उच्चरत्) उदय होता हुआ (शुक्रम्) ज्योतिर्मय (देवहितम्) परमेश्वर की ओर से नियत (चक्षुः) ब्रह्मचर्य मार्गोपदेशक है। हे प्रभु ! ऐसी कृपा करिए कि हम इस उपदेश को (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (पश्येम) देखें अर्थात् वीर्यवत्ता का जो उपदेश वह दे रहा है, उसे ग्रहण करके हम भी ऐसे तेजस्वी नेत्रवाले हों। तथा (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (शृणुयाम) हमारी श्रवण-शक्ति बनी रहे तथा (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (प्रब्रवाम) हमारी प्रवचन-शक्ति बनी रहे, तथा (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (अदीनाः)

अदीन, अपराधीन (स्याम) होकर रहें और (शतात्) सौ से (भूयः) अधिक (शरदः) वर्षों तक (च) भी ऐसा हो।

मानव-जीवन की उन्नति के आधार अहिंसा के सङ्कल्प का 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः' में वर्णन हो गया। अब ब्रह्मचर्य के संकल्प का वर्णन होता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्रह्म में सब शक्तियों को चराना, जिससे वे विषयों में न चरें। इसलिए उस ब्रह्म की महिमा का वर्णन करते हैं—

"जो ब्रह्म चक्षुः अर्थात् सबका मार्गदर्शक, सबको राह बतानेवाला (चष्टे इति चक्षुः) तथा विद्वानों का परम हितकारक है, जो सबसे प्रथम तथा शुद्ध तेजोमय सर्वोच्च शक्ति है, उसको हम सौ वर्ष पर्यन्त ज्ञानचक्षु से देखें। उसकी कृपा से सौ वर्ष तक जीवें, उसके गुण सौ वर्ष तक श्रवण करें। उसी का सौ वर्ष अन्यों को उपदेश करें, जिससे हम सौ वर्ष तक अदीन होकर रहें। और सौ वर्ष तक ही क्यों, सौ वर्ष से अधिक भी।"

इस प्रकार ब्रह्म के ध्यान से क्या फल होता है, वह इसी मंत्र के स्थूल जगत्परक दूसरे अर्थ से प्रकट होता है।

'तत्' अर्थात् वह सूर्य (जिसका ब्रह्मचारी को उपनयन के समय दर्शन कराया जाता है) सबके हित के लिए परम प्रभु ने तुम्हारे सामने आकाश में स्थापित किया है। वह 'चक्षुः' अर्थात् नेत्र की तरह आन्तरिक अवस्था को यथार्थ रूप में कहनेवाला एक व्याख्यान-दाता है। वह तुम्हारे सामने शुद्ध ज्योतिर्मय सूर्य उदय हो रहा है और कुछ कह रहा है। कह रहा है कि ब्रह्मचारी के नेत्र ऐसे ज्योतिर्मय होते हैं। तुम भी अपने नेत्र ऐसे ही बना लो। हे प्रभो! हम पर ऐसी कृपा कीजिए कि आपके संसार-रूपी दूत की यह चक्षु हमें जो ब्रह्मचर्य का सन्देश दे रही है, इसे हम एक-दो दिन नहीं, बराबर सौ वर्ष और उससे भी अधिक ग्रहण करें। सौ वर्ष तक सुनें और सुनावें, जिससे

सच्चे ब्रह्मचारी बनकर हम सौ वर्ष और उससे अधिक भी जितना जियें, उतने काल तक कभी दीन और पराश्रित न हों।"

सौ वर्ष तक लोग अब भी जीते हैं। परन्तु १०० वर्ष तक जीते हुए भी अदीन होकर जीना उन्हें ही नसीब होता है, जिन्होंने इस ब्रह्मचर्य के परम रसायन का यथावत् सेवन किया है।

इस मन्त्र का ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध इसी से स्पष्ट है कि उपनयन के दिन ब्रह्मचारी को यह मन्त्र पढ़ाकर सूर्य का दर्शन कराया जाता है। 'शतपथ ब्राह्मण' में सूर्य को 'रेतोदेवता' अर्थात् 'वीर्य का देवता' कहा है। ब्रह्मचारी को इससे सुन्दर आदर्श बताया भी क्या जा सकता है! हम लोग यदि किसी को ब्रह्मचर्य के लिए आदर्श बनाना चाहें तो हनुमान्, भीष्म, शङ्कर, दयानन्द आदि अनेक महापुरुषों के नाम ले सकते हैं। परन्तु अनादि-निधना भगवती वेदवाणी इस प्रकार के ऐतिहासिक अनित्य पुरुषों का वर्णन कैसे करे? इसलिए उसमें विश्व की घटनाओं में से ही अलंकार बाँधकर उपदेश दिया जाता है। अलंकार है भी कितना सुन्दर! इसी सुन्दरता का अनुभव वे ही कर सकते हैं, जिन्होंने कभी प्रातःकाल उठकर सूर्य की नवीन जीवन-सञ्चार करनेवाली किरणों में स्नान किया है। इसी पर तो ऋषि बोल उठे—

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं
परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः॥

इस प्रकार इस मन्त्र में सूर्यों के सूर्य ब्रह्म का तथा इस ग्रह-चक्र के सूर्य का श्लेष से वर्णन करके सन्ध्या के परमतत्त्व ईश्वर-प्रणिधान पर आते हैं।

अथ गायत्री

ओ३म् । भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

अर्थ—ओ३म्=(अ) विविध जगत् का प्रकाश करनेवाला (उ) जिसके गर्भ में सूर्यादि लोक हैं, (म्) जो सबका स्वामी नाश-रहित तथा ज्ञान-स्वरूप है (भूः) जो प्राणों से भी प्रिय है (भुवः) जो मुक्तों और भक्तों को दुःखों से अलग करनेवाला है (स्वः) जो सब जगत् में व्यापक होकर उसे नियम में रखता है तथा सुख-स्वरूप है। (सवितुः) सब जगत् के ऐश्वर्यदायक (देवस्य) सबके आत्माओं को प्रकाश करनेवाले देव के (तत्)उस (वरेण्यम्) ग्रहण करने योग्य (भर्गः) शुद्ध विज्ञानस्वरूप को (धीमहि) हम लोग सदा प्रेम-भक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें (यः) जो (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) कृपा करके सब बुरे कामों से अलग करके उत्तम कामों में प्रवृत्त करें।

सूरदास का पद है—"जब लग गज बल अपनो बरत्यो काम न नेक सर्‌यो" अर्थात् जब तक ग्राह द्वारा पकड़े हुए हाथी ने अपना बल लगाया उसका काम सिद्ध न हुआ, किन्तु ज्योंही उसने निराश होकर प्रभु को पुकारा, आधा नाम लेते ही वे पहुँच गए। वैदिक-धर्म इस भक्ति-मार्ग से घबराता है। जो अपना बल नहीं बरतता, वह प्रभु का सबसे बड़ा निन्दक है। वह मानो कह रहा है कि हे प्रभो ! आँख, नाक, कान, हाथ, पैर, और इन सबसे बढ़कर बुद्धि आपने मुझे व्यर्थ दिये। किन्तु हाँ, एक अन्य प्रकार से अर्थ करें, तब उपर्युक्त वाक्य सार्थक भी हो सकता है। जो अपने बल को अपना जानकर बरतता है, उसके कार्य यदि बिल्कुल निष्फल नहीं तो क्षणिक फल देनेवाले तो होते ही हैं। इससे अधिक फल वे नहीं ला सकते। यही बात 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इस मन्त्र की व्याख्या में हमारे सुहृद्वर

पण्डित चमूपति जी बड़े सुन्दर रूप से दिखाया करते थे। इसीलिए इसे लगभग उन्हीं के शब्दों में उपस्थित करता हूँ—"ब्राह्मण परमेश्वर का मुख है, क्योंकि उसने अपने मुख को प्रभु का मुख बना दिया है। जिस प्रकार सरकार के साधारण-से-साधारण सिपाही पर किया हुआ हमला राजा पर हमला है, उसी प्रकार निष्काम-भाव से प्रभु की आज्ञा प्रजा को सुनानेवाला मुख प्रभु का मुख बन गया है। जिस समय न्यायालय में अभियोग चलता है तो 'रामलाल चपरासी बनाम श्यामलाल' नहीं चलता किन्तु 'राजराजेश्वर बनाम श्यामलाल' चलाया जाता है।" इस प्रकार वैदिकधर्मी का विश्वास यह नहीं कि अपना बल मत बरतो। किन्तु वैदिकधर्मी की भक्ति की राह बड़ी कठिन है। वह तो कहता है—अपना सारा बल भी लगा, और फिर भी उसे अपना मत समझ! इसे एक दृष्टांत से समझाते हैं—कभी-कभी रेल-गाड़ी के कमरे में बैठा बालक गाड़ी को धक्का देता है और दैवयोग से उसी समय गाड़ी चल पड़ती है। वह समझ लेता है मेरे धक्के से चली है। ऐसे ही जब हम 'उसकी' आज्ञाओं के अनुकूल चल रहे होते हैं, तो जो सफलता पाते हैं, उसे अपनी समझ लेते हैं। यह भूल जाते हैं कि सफलता उसके अनुकूल चलने से ही मिली है। ज़रा प्रतिकूल चलकर देख और तुझे अपनी शक्ति का पता लग जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी प्रतिकूल चलनेवाले को भी क्षणिक सफलता मिलती है। किन्तु यह भी सञ्चित पुण्यों के फलस्वरूप उसके नियमानुकूल ही मिलती है। उसकी मर्यादा से हटकर हम क्षण-भर भी नहीं जी सकते। जहाँ संचित कर्म समाप्त हुए कि बड़े-से-बड़े मदान्धों का गर्व चूर हो जाता है। सारा इतिहास इसका साक्षी है। इसलिए जो मनुष्य भोगैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा, सब प्रकार की एषणाओं पर पूर्ण विजय करके सब कर्मों को उसकी आज्ञा समझकर करते हैं, उनका मुख उसका मुख, उनके हाथ उसके हाथ, उनके पैर उसके पैर, यहाँ तक कि उनके भोग-साधन भी उनकी सृष्टि के कल्याण-साधन होने के कारण उसके

ही हो जाते हैं। ऐसे मनुष्य जो कर्म करते हैं, उन्हें प्रभु से साक्षात् प्रेरणा भी मिलती रहती है। यद्यपि, मनुष्य अपनी स्वाभाविक क्षुद्रता के कारण कभी अपनी सूक्ष्मवासना को आत्मवंचन द्वारा उसकी आज्ञा न समझ ले, इसलिए भक्त को सदा आत्म-परीक्षा के समय, अपने आचरण को शास्त्र की कसौटी पर भी कसते रहना चाहिए। परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस कोटि पर पहुँचे हुए भक्तों की बुद्धि को दैवी प्रेरणा मिलती है। किन्तु यह उच्चावस्था किसी व्यक्तिविशेष के लिए रोककर नहीं रक्खी गई। जो चाहे इस पदवी पर पहुँच सकता है। उसका मार्ग है 'ईश्वर-प्रणिधान'। यही बात गायत्री-मंत्र में कही गई। इसी अवस्था के लिए इस मंत्र में प्रार्थना की गई है। इसलिए इस मंत्र की सबसे अधिक महिमा है।

इस 'ईश्वर-प्रणिधान' में और भी चमत्कार उत्पन्न हो जाता है, जब हम सन्ध्या के मंत्रों में इसकी क्रमस्थिति पर ध्यान देते हैं। मनसा-परिक्रमा के अभेद्य कवच को धारण करके जिसने सर्वभूतदया का पाथेय ग्रहण किया, सत्य की खोज में विज्ञान की उच्चतम दशा तक पहुँचकर जिसने विश्वदर्शन का सौभाग्य पा लिया, ब्रह्मचर्य के अमोघ रसायन से जो जाज्वल्यमान हो गया, जिसकी आँख के आगे प्रतिपक्षी की आँख नहीं टिकती, जो अदीनता के धन का धनी है, वह दैन्य से नहीं, आत्म-धिक्कार से नहीं, किन्तु प्रभु की निष्काम प्रीति से, लोक के कल्याण की भावना से, अभिमान पर विजय की कामना से, अपनी इस सारी सम्पत्ति-समृद्धि का प्रभु के चरणों में विनीत उपहार करता हुआ अद्भुत शोभा पाता है। मानो प्रभु उससे कहते हैं,—'सा मय्येव स्खलन्ती कथयति विनयालङ्कृतं ते प्रभुत्वम्।'

इस प्रसंग में भक्त-सम्प्रदाय में प्रचलित एक कथा को भी उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा। सुनते हैं, किसी समय एक अति फटे-पुराने, मैले वस्त्रोंवाला एक मनुष्य एक साहूकार के पास नौकरी के के लिए गया। साहूकार ने उसे नौकर रख लिया। उसने बड़ी लगन

और सत्य-परायणता से काम किया। इसलिए वह धीरे-धीरे स्वामी का कृपा-पात्र हो गया। स्वामी की कृपा से उसके पास अति-सुन्दर वस्त्र हो गए और वह भवन में निवास करने लगा। उसका नियम था कि प्रतिदिन प्रातःकाल एक सन्दूक के दर्शन करके, पीछे घर के काम-काज को हाथ लगाया करता था। उधर स्वामी के अन्य सेवक ईर्ष्या से जलने लगे। एक दिन उनमें से एक ने स्वामी से जाकर कहा कि आप जिसे अपना परम विश्वास-पात्र समझते हैं, वह कितना नीच है, सो आप स्वयं चलकर देखें। उसने आपकी सम्पत्ति में से अनेक बहुमूल्य पदार्थ चुराकर रक्खे हैं और प्रतिदिन प्रातःकाल उन्हें देखकर मन-ही-मन प्रसन्न हुआ करता है। जब स्वामी को विश्वास न आया, तो वह बोला कि आप अमुक समय अमुक कोठरी में स्वयं जाकर देख लें। अगले दिन स्वामी जाकर छिप रहा। जब वह सेवक आया और नित्य-नियमानुसार सन्दूक खोलकर देखने लगा, तो एक-दम स्वामी भी ऊपर से आकर खड़ा हो गया। स्वामी ने देखा कि सन्दूक में कुछ फटे-पुराने मैले-कुचैले वस्त्र रक्खे हैं। स्वामी ने आश्चर्यान्वित होकर पूछा—यह क्या ? सेवक ने काँपकर उत्तर दिया—'स्वामिन् ! ये वही वस्त्र हैं, जिन्हें पहनकर मैं आपकी सेवा में आया था। आज ऐश्वर्य के दिनों में प्रतिदिन इनका दर्शन कर लेता हूँ जिससे मैं भूल न जाऊँ कि आपने मुझपर कितनी कृपा की है।'

इसी प्रकार भक्त को भी ऊँची-से-ऊँची अवस्था पर पहुँचकर यह न भूल जाना चाहिए कि वह जो कुछ बना है, उस करुणासागर के सत्संग तथा भजन की कृपा से बना है। ऊँचे-से-ऊँचे पद पर पहुँचकर भी वह प्रभु से ही प्रेरणा माँगता हुआ कहे—

धियो यो नः प्रचोदयात्।

इस प्रकार उपासना करके 'शन्नो देवी' इस मंत्र में जिस 'शम्' शब्द से आरम्भ किया था, वहीं उपसंहार करते हैं।

अथ समर्पणम्

ओ३म् । नमः शम्भवाय च मयोभवाय च, नमः शंकराय च मयस्कराय च, नमः शिवाय च शिवतराय च ।

अर्थ—(शम्भवाय) शान्ति के रूप प्रभु के लिए (नमः) नमस्कार (च) और (मयोभवाय) सुखरूप प्रभु को नमस्कार (शङ्कराय) जो दूसरों को शान्ति देता है, उस प्रभु को (नमः) नमस्कार (च) और (मयस्कराय) जो दूसरों को सुख देता है उस प्रभु को (नमः) नमस्कार, (शिवाय) जो सबका कल्याण करता है उस प्रभु को (च) और (शिवतराय) जो उससे भी बढ़कर शांति देता है उस प्रभु को (नमः) नमस्कार ।

अब मैंने आगे बढ़ना भी सीख लिया, अकड़ना भी सीख लिया, पर इन दोनों से बढ़कर आनन्द, सिर झुकाने में पाया। अब तो झुकना बहुत भाता है—

'शान्ति के रूप—जो शान्ति ही है—उस प्रभु को नमस्कार, सुख-रूप प्रभु को नमस्कार जो दूसरों को शान्ति देता है, उसे नमस्कार जो कल्याण करता है, और फिर उससे भी बढ़कर कल्याण करता है उस प्रभु को नमस्कार !!'

सन्ध्या के मन्त्रों का अनुवाद

१

सब कामनाओं को प्राप्त करानेवाली दिव्य (तेजोमय) वह प्रभु-शक्ति हम सबके लिए हमारी अभीष्ट सिद्धि के निमित्त और परम रस का पान करने के लिए शान्तिदायक हो और सुख को बरसावे ।

२

उस प्रभु की कृपा से मेरी वाणी, मेरे प्राण, मेरी आँखें, मेरे कान,

मेरी नाभि, मेरा हृदय, मेरा कण्ठ, मेरा सिर, ये सब यशोबल देने वाले हों। उस यशोबल को मैं अपनी भुजाओं से प्राप्त करूँ। मैं अपने कर्मों को अपनी और दूसरों की दोनों दृष्टियों से देखूँ। मैं हाथ की हथेली और हाथ का पृष्ठ दोनों सामने रक्खूँ।

३

सबका उद्भवस्थान प्रभु हमारे सिर में पवित्रता करे। उत्पत्ति का साधन प्रभु हमारे नेत्रों में पवित्रता करे। सुखस्वरूप प्रभु हमारे कंठ में पवित्रता करे। महान् प्रभु हमारे हृदय में पवित्रता करे। जनक प्रभु हमारी नाभि में पवित्रता करे। तपोमय भगवान् हमारे पैरों में पवित्रता करे। सत्यशील प्रभु फिर सिर में पवित्रता करे। आकाश की तरह व्यापक प्रभु हमें सर्वत्र पवित्र करे।

४

ओं सबका उद्भवस्थान है। ओं सबका उत्पत्ति-साधन है। ओं सुखस्वरूप है। ओं महान् है। ओं जनक है। ओं तपोमय है। ओं सत्यरूप है।

५

कुल हरकत करनेवालों को वश में करनेवाले उस परमेश्वर ने दिन-रात को बनाया। उसी परमेश्वर ने पहली सृष्टि की तरह सूर्य और चाँद को बनाया। उसी ने द्यौ (आसमान) को, पृथिवी को और अन्तरिक्ष को बनाया। उसी परमेश्वर के देदीप्यमान प्रताप से यथार्थ ज्ञान, वेद, और स्थूल प्रकृति कार्यरूप में प्रकट हुए। उससे ही प्रलय-अवस्था उत्पन्न हुई। उससे ही जल के लहरोंवाले समुद्र और मेघ उत्पन्न हुए। लहरोंवाले समुद्र के बाद दिन, महीना, वर्ष आदि व्यवहार उत्पन्न हुए।

६

भक्ति-मार्ग में मेरी सबसे पहली दिशा, आगे बढ़ने की दिशा है। अग्रणी भगवान् इसमें अधिपति हैं। बन्धन काटनेवाला उनका गुण

रक्षक है। आदित्य ब्रह्मचारी बाण की तरह इस निशाने पर पहुँचानेवाले हैं। उस अधिपति को नमस्कार, रक्षक को नमस्कार, आदित्यों को नमस्कार, इन सबको नमस्कार हो! जो हमसे द्वेष करता है, जिससे हम द्वेष करते हैं, उसे आपकी न्यायरूप दाढ़ में रखते हैं।

७

आगे बढ़ने का परिणाम ऐश्वर्य है। यह भक्त की दूसरी दिशा है। सबसे बड़ा ऐश्वर्य, बड़ा भगवान् इसका अधिपति है। वह अभिमान को दूर करके कुटिल चाल से बचाता है। अनुभवी पितर लोग बाण की तरह इस निशाने पर पहुँचानेवाले हैं। उस अधिपति को नमस्कार, रक्षक को नमस्कार, पितरों को नमस्कार, इन सबको नमस्कार हो! जो हमसे द्वेष करता है, जिससे हम द्वेष करते हैं, उसे आपकी न्यायरूप दाढ़ में रखते हैं।

८

जिसने आगे बढ़ना सीख लिया, ऐश्वर्य पाकर जो मद में नहीं आया, उसके पीठ-पीछे का रखवाला भगवान् वरुण है। वह छिपकर घात करनेवालों से बचाता है। छिपकर घात करनेवाले जिन्हें अपना अन्न बनाते हैं, उन्हीं का अन्न बन जाते हैं। यह संसार का अनुभव हमें बाण की तरह इस निशाने पर पहुँचानेवाला है। उस अधिपति को नमस्कार, रक्षक को नमस्कार, अन्न को नमस्कार, इन सबको नमस्कार हो! जो हमसे द्वेष करता है, और जिससे हम द्वेष करते हैं, उसे आपकी न्यायरूप दाढ़ में रखते हैं।

१०

जब यत्न करने पर भी—सारी शक्ति लगाने पर भी, भक्त को सफलता न हो, तब वह व्याकुल होकर अपने से ऊँची शक्ति की ओर ताकता है। इसका नाम उदीची दिशा है। यहाँ भगवान् सोम-रूप होकर अपना मीठा रस बरसाते हैं। वही इस दिशा के भी अधिपति हैं। इस सोम को हम पर्वत पर नहीं, किन्तु अपने अन्दर ही पाते हैं।

यही विश्वास हमारी रक्षा करता है। सर्वत्र रहनेवाली और ठीक प्रयत्न से प्रकट होनेवाली बिजली हमें बाण की तरह इस निशाने पर पहुँचाती है। उस अधिपति को नमस्कार, रक्षक को नमस्कार, आध्यात्मिक बिजली के तत्त्वज्ञानियों को नमस्कार, इन सबको नमस्कार हो ! जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, उसे आपकी न्यायरूप दाढ़ में रखते हैं।

११

पवित्र भावों को स्थिर करने के लिए, अपने समान उद्देश्य रखनेवालों के साथ, मिलकर संगठन बनाना, यह भक्ति-मार्ग की अगली दिशा है। इस दिशा का नाम ध्रुवा (पायेदार) है। इस दिशा के भगवान् विष्णु हैं। इस भावना की रक्षा के लिए उन्होंने रंग-बिरंगे फूलोंवाला संसार बनाया है। रंग-भेद भुलाकर स्वामी की आज्ञा पाने पर, नीचे से ऊपर की ओर जानेवाले वृक्ष और उनसे इस गुण को सीखनेवाले महापुरुष बाण की तरह हमें इस निशाने पर पहुँचाते हैं। उस अधिपति विष्णु को नमस्कार, उन रंग-बिरंगे भेद भुलानेवाले को नमस्कार, उन नीचे से ऊपर की ओर चढ़नेवाले रक्षकों व सच्चे सेवकों को नमस्कार, इन सबको नमस्कार है ! जो हमसे द्वेष करता है, जिससे हम द्वेष करते हैं, उसे आपकी न्यायरूप दाढ़ में रखते हैं।

२१

जहाँ सब रंग मिलकर एक हो जाते हैं, जहाँ उस प्रभु का साक्षात्कार होता है, उसका नाम ऊर्ध्वा (ऊँची) दिशा है। इस दिशा में हम कहते हैं—'हे बृहस्पते ! हमें ऊँचा चढ़ने का तत्त्व सिखाओ। इस दिशा के तुम्हीं अधिपति हो। हम जहाँ एकदेशी एकरंगी किरणों का रंग देखते हैं, वहाँ तब तक दम न लें, जब तक आपका शुद्ध, शान्त, ज्योतिर्मय श्वेत, सब रंगों के मिलने से पैदा होनेवाले, रंग न देख लें। हमें ऊँचा चढ़ना सिखाने के लिए आपने वर्षा के बिन्दु भेजे हैं। आपको नमस्कार, आपकी श्वेत ज्योतिर्मय शक्ति को नमस्कार ! जिन्होंने

आपके वर्षा के बिन्दुओं से ऊपर चढ़कर धरती पर गिरे हुए क्षुद्र जीवों के लिए मिट्टी में मिलना सिखाया है, उन उच्चतम महापुरुषों को नमस्कार ! जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, हम उसे अन्त में आपकी न्यायरूप दाढ़ में रखते हैं।

१३

हे प्रभु ! हम अविद्या के अन्धकार में पड़े हैं। हम आपके सुख-स्वरूप को देखते हुए, उस अन्धकार से ऊपर उठें और प्रकृति के तत्त्व को पहचानें। फिर उससे ऊपर उठें और अपने तत्त्व को पहचानें। फिर उससे ऊपर उठकर देवों में जा मिलें, जहाँ हम सबसे उत्तम ज्योति, अब सूर्यों के सूर्य उस परम देव को प्राप्त हों।

१४

वह सूर्य सारे विश्व का दर्शन कराता है। उसने अपनी सृष्टि में अनन्त झंडियाँ लगाई हैं; जो उनमें से किसी एक झंडी को पकड़ लेता है, उसे यह झण्डी रास्ता दिखाती हुई अन्त में उस अन्तर्यामी के पास ले जाती है। ये उसके ज्ञान की अनन्त किरणें हैं।

१५

इन किरणों में से एक को पकड़कर चलनेवाला भक्त वहाँ पर पहुँचकर पुकार उठता है—

देवों की यह विचित्र सेना मेरे सामने व्यूह बाँधकर उदय हुई है। यह देव-सेना ही मित्र, वरुण और अग्नि सबको रास्ता दिखाती है। वह कहती है कि धरती, आकाश, अन्तरिक्ष इन सब में एक महान् आत्मा व्यापक है, जो हमें कवायद करा रही है। वही सबका मंज़िले-मकसूद है। वाह-वाह !

१६

हे देव ! वह सामने खड़ा हुआ ज्योतिर्मय सूर्य आपकी ओर से नियत किया हुआ ब्रह्मचर्य का उपदेशक है। हे प्रभु ! ऐसी कृपा करिए जिससे हम सौ वर्ष तक इसे देखें, जिससे सौ वर्ष तक हमारे नेत्र

तेजस्वी रहें, सौ वर्ष तक हमारी श्रवण-शक्ति बनी रहे, सौ वर्ष तक हम जो कुछ सुनें, वह दूसरों को भी सुनावें। सौ वर्ष तक हम कभी दीन न हों। सौ वर्ष तक ही क्यों, उससे अधिक भी ऐसा हो।

१७

जो विविध जगत् का प्रकाश करनेवाला, सूर्य आदि लोकों को अपने गर्भ में धारण करनेवाला, सबका स्वामी ज्ञानस्वरूप और नाश-रहित है, उस सविता देव के प्राणों से भी प्रिय मुक्तों और भक्तों को दुःखों से अलग रखनेवाले, सुखस्वरूप, सबके ग्रहण करने योग्य शुद्ध विज्ञान-रूप को हम लोग सदा प्रेम-भक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें, जो हमारी बुद्धियों को कृपा करके सब बुरे कामों से अलग करके उत्तम कामों में प्रवृत्त करे।

१८

शान्तिरूप प्रभु को नमस्कार! सुखरूप प्रभु को नमस्कार! जो दूसरों को शान्ति देता है, उस प्रभु को नमस्कार! जो दूसरों को सुख देता है, उस प्रभु को नमस्कार! जो सबका कल्याण करता है और फिर उससे भी बढ़कर कल्याण करता है, उस प्रभु को नमस्कार!

अथ द्वितीयोऽग्निहोत्रो देवयज्ञः प्रोच्यते

अथ देवयज्ञ

इसका आचरण इस प्रकार से करना चाहिए कि सन्ध्योपासना करने के पश्चात् अग्निहोत्र का समय है। उसके लिए सोना, चाँदी, तांबा, लोहा या मिट्टी का कुण्ड बनवा लेना चाहिए जिसका परिमाण सोलह अंगुल चौड़ा, सोलह अंगुल गहरा हो और उसका तला चार-चार अंगुल लम्बा-चौड़ा रहे। एक चमचा, जिसकी डण्डी सोलह अंगुल हो, बनवा ले। उसके अग्र-भाग में अंगूठे की यवरेखा के प्रमाण से लम्बा-चौड़ा आचमनी के समान मुँह बनवा लेवे; सो भी सोना, चाँदी, वा पलाशादि लकड़ी का हो। एक आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि सामग्री रखने का पात्र सोना, चाँदी या पूर्वोक्त लकड़ी का बनवा लेवे। एक जल का पात्र तथा एक चिमटा और पलाशादि की लकड़ी समिधा के लिए रख लेवे। पुनः घृत को गर्म करके छान लेवे। एक सेर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक माशा केशर पीसकर मिलाके उक्त पात्र के तुल्य दूसरे पात्र में रख छोड़े। जब अग्निहोत्र करे, तब शुद्ध स्थान में बैठके पूर्वोक्त सामग्री पास रख लेवे। जल के पात्र में जल और घी के पात्र में एक छटाँक वा अधिक जितना सामर्थ्य हो, उतने शोधे हुए घी को निकालकर अग्नि में तपाके सामने रख लेवे। चमसे को भी रख लेवे। पुनः उन्हीं पलाशादि या चन्दनादि लकड़ियों को वेदी में रखकर उनमें आगी धरके, पंखे से प्रदीप्त कर, आगे लिखे

मन्त्रों में से एक-एक मन्त्र से एक-एक आहुति देता जाय, प्रातःकाल वा सायंकाल में। अथवा एक समय में करे तो सब मन्त्रों से सब आहुति किया करे।

अथाग्निहोमकरणार्थाः मन्त्राः

ओं सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा ॥१॥
ओं सूर्य्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥२॥
ओं ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा ॥३॥
ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या
जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥४॥

एते चत्वारो मन्त्राः प्रातःकालस्य सन्तीति बोध्यम् ॥

ओं अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥१॥
ओं अग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥२॥
ओं अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥३॥

अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रं मनसोच्चार्य तृतीयाहुतिर्देया ॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या।
जुषाणोऽग्निर्वेतु स्वाहा ॥४॥

—यजुः० ३।९,१०

एते सायंकालस्य मन्त्राः सन्तीति वेदितव्यम्।

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थास्समाना मन्त्राः—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥१॥
ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥२॥
ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥३॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः
प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ।।४।।
ओं आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ।।५।।
ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा ।।६।। —पञ्च महायज्ञ विधि

उपक्रमणिका

ब्रह्मयज्ञ में एक व्यक्ति का परमदेव परब्रह्म और उसकी वाणी वेद से सङ्गतिकरण दिखा दिया गया। अब देवयज्ञ आरम्भ होता है। इससे पहले कि हम देवयज्ञ की पद्धति तथा मन्त्रों की व्याख्या करें, यज्ञों के विषय में कुछ सामान्य बातों का वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है।

यज्ञ शब्द का अर्थ

यज्ञ शब्द 'यज' धातु से बना है। 'यज' धातु के तीन अर्थ हैं—
[१] देवपूजा, [२] सङ्गतिकरण, [३] दान।

वस्तुतः देखा जाय तो सङ्गतिकरण अर्थात् मिलाना ही यज्ञ का अर्थ है। मिलने के लिए कम-से-कम दो मिलनेवाले होने चाहिएँ। जब दो मिलनेवाले परस्पर मिलेंगे, तो उनमें यही व्यवहार होगा कि एक कुछ देगा और दूसरा कुछ लेगा। लेनेवाला देनेवाले की पूजा करेगा और देनेवाला देने के कारण देव कहलायेगा (देवो दानात्)। सो यह देव-पूजा और दान ही परस्पर का व्यवहार है, जिसके कारण सङ्गतिकरण अथवा सङ्गठन होता है। देनेवाले देव की भावना देते समय जितनी स्वार्थ-रहित होगी, पूजा भी उतने सच्चे हृदय से होगी। इसलिए संगतिकरण भी उतना ही गहरा और चिरस्थायी होगा। इसीलिए यज्ञ में बारम्बार 'इदन्न मम'—'यह मेरा नहीं है', ये शब्द दोहराये जाते हैं।

यज्ञ और यज्ञ-नाटक

वस्तुतः देखा जाय तो अग्निहोत्र, पौर्णमास, अश्वमेधादि यज्ञ न होकर यज्ञ-नाटक हैं। यज्ञ ये केवल इसलिए हैं कि इनमें घृत, अग्नि, सामग्री, समिधा आदि का संगतिकरण है; वस्तुतः समिधा, घृत, अग्नि, जलादि पदार्थ इसलिए इकट्ठे किये जाते हैं कि इनके द्वारा गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, राजा-प्रजा, ग्राहक-दूकानदार, स्वामी-सेवक आदि को परस्पर के व्यवहार की शिक्षा दी जाय। इसीलिए गीता में कहा है—**नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम** (गीता ४-३१) अर्थात् हे अर्जुन! जो यज्ञ नहीं करते उनको यही लोक प्राप्त नहीं होता, तो परलोक क्या प्राप्त होगा! इससे स्पष्ट है कि यज्ञ का मुख्य सम्बन्ध इस लोक से है। इन यज्ञ-नाटकों में जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उनमें असली यज्ञ के उपदेश भरे रहते हैं।

यजमान

जब भी दो-चार, दस-बीस अथवा इससे अधिक मनुष्य परस्पर मिलकर कोई संगठित कार्य करने की इच्छा करते हैं, तब यह आवश्यक है कि वे अपने में से किसी को मुख्य कार्यकर्त्ता बनाकर उसके कहने में चलें, उसके संकल्प की पूर्ति करें। इस मुख्य कार्यकर्त्ता को ही यज्ञ में यजमान कहा जाता है।

अग्नि

अग्नि के लिए वेद में कहा है 'आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा' (यजुः० ४-७) अर्थात् महान् उद्देश्य के लिए प्रबल वेग से धक्का देनेवाले, आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा करनेवाले दृढ़ संकल्प का नाम अग्नि है और वह प्रशंसनीय है। यही यज्ञ में अग्नि है।

आचमन

जिस प्रकार अग्नि प्रकाश और गर्मी का प्रतिनिधि है, उसी प्रकार जल शान्ति और पवित्रता का प्रतिनिधि है। मनुष्य का धर्म है कि हर एक महान् कार्य को आरम्भ करने और अपने साथियों को उसमें सहयोग देने के लिए निमन्त्रित करने से पहले उस संकल्प पर शान्त-चित्त होकर विचार करे और यदि उसमें कोई थोड़ी-सी भी अपवित्रता हो, तो उसे निकालकर बाहर कर दे। यही आचमन-क्रिया का तात्पर्य है।

आचमन के तीन मन्त्र

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥१॥
ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥२॥
ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयताम् स्वाहा ॥३॥

इनका सीधा अर्थ यह है कि प्रथम आचमन अमृत का उपस्तरण अर्थात् बिछौना है।

दूसरा आचमन अमृत का अपिधान अर्थात् ओढ़ना है।

तीसरे आचमन में अमृत का रूप दिखाया है अर्थात् सत्य, यश और श्री, ये तीन अमृत हैं। इनमें से कोई एक मेरे हृदय में इस ओढ़ने और बिछौने के बीच शयन करे। 'सत्य' ब्राह्मण का अमृत है, 'यश' क्षत्रिय का अमृत है और 'श्री' वैश्य का अमृत है।

ब्राह्मण का प्रण है कि मैं अपनी जान देकर भी सत्य को न मरने दूँ। वह अमृत रहे, इसलिए सत्य ब्राह्मण का अमृत है।

क्षत्रिय का प्रण है कि प्राण देकर भी यश की रक्षा करूँ। मुझपर यह कलंक कभी न आने पाए कि मैंने न्याय की रक्षा नहीं की। क्षत्रिय का धर्म केवल न्याय करना नहीं, अपितु, प्रजा को यह विश्वास भी दिलाना है कि वह न्याय कर रहा है, यह भी उसका धर्म है। इसलिए यश उसका अमृत है।

श्री शब्द 'श्रि श्रये' धातु से बना है। 'श्रये' का अर्थ है 'आश्रय

देना'। जिस मनुष्य के पास एक लक्ष रुपया भी हो किन्तु उसने कभी किसी पुण्य कार्य को आश्रय न दिया हो तो वह, धनपति तो कहला सकता है, श्रीपति नहीं। श्री तो उसी धन का नाम है, जिसके द्वारा किसी पुण्य कार्य को आश्रय दिया जाय। यह भी वैश्य का अमृत है। वैश्य अपने प्राण देकर भी श्री को नहीं मरने देता।

अब इन तीनों सत्य, यश और श्री का ओढ़ना और बिछौना, अर्थात् प्राप्ति-मार्ग और प्रयोग-मार्ग, दोनों ही पवित्र हों और शान्ति से युक्त हों, यही आचमन-क्रिया का तात्पर्य है। जब एक प्रण कर लिया, फिर तो उसे निभाना ही चाहिए। किन्तु प्रण करने से पहले खूब ठण्डे दिल से विचार लेना चाहिए, जिससे पीछे पछताना न पड़े।

समिधा

यजमान के सहयोगी कार्यकर्त्ता समिधा कहलाते हैं। उनका कर्त्तव्य है कि अपने-आप की आहुति करके भी अग्नि की रक्षा करें। इसलिए सबसे पहली समिधा यजमान अपने-आपको बनाता है। वह कहता है—'अयं त इध्म आत्मा जातवेदः'—हे अग्नि! तेरे लिए सबसे पहला इंधन 'अयम् आत्मा' यह यजमान अपने-आप है। कठिन समय आने पर लोग दूसरों से कहते हैं कि तुम आगे बढ़ो, और स्वयं चुप-चाप पीछे छिपकर बैठ जाते हैं। वे यज्ञ सफल नहीं होते। जो यजमान यज्ञ में सबसे पहले अपने-आपको आहुति करने को तैयार रहते हैं, उनकी अग्नि सदा अमर रहती है।

ऋत्विज्

ऋतु उस समय को कहते हैं, जो किसी कार्यकर्त्ता ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी एक विशेष कार्य के लिए नियत किया हो। उदाहरण के लिए चावल पकाने में—धान कटना, धोना आग

जलाना, पानी रखना और पकाना, ये पाँच अंग हैं। सो इन पाँच कार्यों के लिए नियत समय को चावल पकाने की पाँच ऋतु कहेंगे। ऋत्विज् उस मनुष्य को कहते हैं जो अन्धाधुन्ध कार्य न करके उद्देश्य की पूर्ति के लिए पहले ठीक-ठीक समय-विभाग बनाये, फिर उसका पूर्ण रूप से पालन करे। अंग्रेजी भाषा में ऐसे मनुष्य को Punctual कहते हैं, किन्तु Punctual में समय-विभाग के बनाने का भाव इतना विशेषरूपेण नहीं है, जितना समय-पालन का भाव है। ऋत्विज् में दोनों भाव स्पष्ट दीखते हैं। इसीलिए यह शब्द अति सुन्दर है।

चार ऋत्विज्

यों तो बड़े यज्ञों में ऋत्विजों की संख्या १६ तक पहुँच जाती है, किन्तु साधारण यज्ञों में चार ऋत्विज होते हैं। इनके नाम हैं—होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा।

छह आसन

भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके कामधुग्भवति।' अर्थात् 'वेदवाणी की महिमा अपार है; उसके एक शब्द को भी ठीक-ठीक जानकर उसे यदि भली प्रकार प्रयोग में ले आवें, तो वह एक शब्द ही कामधेनु हो जाता है।' सो यदि हम यज्ञ-विद्या की ओर ध्यान दें, तो यह बात बिलकुल यथार्थ प्रतीत होती है। आप यज्ञशाला में प्रवेश कीजिये। आपको छह आसन मिलेंगे। पूर्वाभिमुख यजमान का आसन है। उनके बाईं ओर होता का आसन है और उनके दाहिनी ओर यजमान-पत्नी का आसन है और उत्तराभिमुख ब्रह्मा जी का आसन है। यजमान के सामने पश्चिमाभिमुख उद्गाता तथा बाईं ओर दक्षिणाभिमुख अध्वर्यु है। ये छह आसन यज्ञशाला में बिछे हैं। देखने में अति साधारण-सी बात है, किन्तु यदि हम इन छह आसनों का मर्म जान लें, तो वर्तमान

युग में पूँजीपतियों और श्रमजीवियों के जितने कलह देखने में आते हैं, सब दूर हो जावें। यही नहीं, जब कभी किसी संगठित कार्य करने-वाले को अपने उद्देश्य की पूर्ति में बाधा उपस्थित हो, तब वह झटपट इस बात का पता लगा सकता है कि उसे सफलता क्यों नहीं हुई। इसका उत्तर इन छहों आसनों में से कोई-न-कोई अवश्य देगा।

संकल्प का आसन

आइये, इन छहों आसनों पर बैठकर कौन क्या करते हैं, इसको जानें। सबसे पहले यजमान को लीजिए। यजमान का आसन संकल्प का आसन है। इस आसन पर बैठकर यजमान संकल्प करता है कि इस तिथि, इस दिन, इस समय, अमुक लोक-हितकारी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मैं अमुक यज्ञ करूँगा। इस क्रिया की क्या महिमा है, सबसे प्रथम इसको ही देखना चाहिए और फिर उस कसौटी पर अपने जीवन को कसकर देखना चाहिए।

आप एक बड़ी दूकान के मालिक हैं। बीस कर्मचारी आपकी इस दूकान पर काम करते हैं। आप यजमान हैं, वे आपके कार्यकर्त्ता। यह एक छोटा-सा यज्ञ है। उसमें से ५०० रुपया मासिक आपको बचता है। यह ५०० रुपया आप क्यों बचाते हैं? आप अभी इस बचत को एक हजार तक पहुँचाना चाहते हैं, पर मैं आपसे पूछता हूँ—क्यों? मैं ही नहीं, आपके कर्मचारी भी पूछते हैं। आप झुँझला-कर कहते हैं—'तुम अपने पैसे लो और अपना काम करो। तुम्हें इससे क्या मतलब?' यह इतना रूखा जवाब आप इसलिए देते हैं कि आप संकल्प की महिमा नहीं जानते। अब आइये कुछ और दृश्य देखिये।

ये कुछ सरदारों के साथ जंगल में कौन बैठे हैं? ये राणा प्रताप हैं। आज इस वन में हैं तो कल उसमें। आज इस घाटी में हैं तो कल उसमें। राज्य छोड़कर वन-वन झाड़ी-झाड़ी की ओर छिपे भाग

रहे हैं। इनके साथी सरदारों का भी यही हाल है। भूख-प्यास, आँधी-पानी और ऊपर से शत्रु, सब ही इनको सताते हैं परन्तु फिर भी सबके चेहरे चमक रहे हैं। वह चमक किसकी है? स्वाधीनता की रक्षा के पवित्र संकल्प की। राणा ने अपने सरदारों से यह नहीं कहा था कि तुम्हें इससे क्या मतलब?

ये कौन हैं? ये दो सौ जंगली मावलों की छोटी-सी टुकड़ी के बीच भविष्यकाल के छत्रपति शिवाजी खड़े हैं। आपकी दूकान के कर्मचारी पारितोषिक मिलने पर भी प्रसन्न नहीं होते, दूसरी ओर इन्हें सहस्र भुजाओं में मृत्यु ही मृत्यु घेरे हुए है। भीषण मुगल साम्राज्य सामने खड़ा डरा रहा है और ये अनपढ़ जंगली हँस रहे हैं। क्यों? इसलिए कि इस यज्ञ के यजमान ने अपना धर्म-रक्षा का पवित्र संकल्प इन्हें बता दिया है।

यह सामने कौन है? यह मुट्ठी-भर हड्डियों का ढेर गांधी है। भला इसकी ओर देखिये! संकल्प छिपाना तो दूर रहा, यह तो पहले से ही चिल्लाकर कह रहा है—'भाइयो, जेल चलना है, चलोगे?' और यह ७० सहस्र नर-नारी किस उत्साह से कह रहे हैं—'क्यों नहीं चलेंगे?' आपके कर्मचारी पारितोषिक के लोभ से भी, दुकान में बिजली के पंखे के नीचे भी एक घण्टा और अधिक बैठने को तैयार नहीं, और इस गांधी के साथ लोग जेल की कोठरियों में भी सड़ने को तैयार हैं। क्यों? उसी देश की स्वतन्त्रता के संकल्प के बल से।

हे पूँजीपतियो! क्या अब भी तुमने संकल्प की महिमा को नहीं समझा? यदि कमाने से पहले तुमने राष्ट्र की सेवा का कोई पवित्र संकल्प किया होता, यदि तुम्हारी कमाई का मुख्य भाग उस संकल्प की पूर्ति में लगता, तो तुम्हारे कर्मचारियों को तुम्हारा ऐश्वर्य, तुम्हारा महल और तुम्हारी मोटर भी न अखरती। उन्हें तुम उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त वेतन भी दे देते, तो कदाचित् वे पारितोषिक भी न माँगते। किन्तु तुम्हारा यज्ञ तो संकल्पहीन

है। जो भाग तुम्हें उनको देना था और जो सङ्कल्प-रूप अग्नि को देना था, उन दोनों में से चोरी, भयङ्कर चोरी करके तुम अपनी कामाग्नि बुझाते हो, इसलिए उनकी क्रोधाग्नि भड़कती है।

घबराओ मत ! तुमने संकल्प करके यज्ञ नहीं किया, तो यज्ञ करके संकल्प कर लो। अब तो निश्चय करो कि तुम्हारी बचत का मुख्य भाग अग्निदेव और 'विश्वेदेवाः' को मिलेगा। राष्ट्रसेवा के किसी पवित्र संकल्प को और उसकी पूर्ति में सहायक कर्मचारियों और ग्राहकों को मिलेगा। वह संकल्प अग्नि है और ग्राहक और कर्मचारी-वर्ग 'विश्वेदेवाः' हैं। इनका भाग चुरानेवाला असुर है, यजमान नहीं। ऐ पूँजीपतियो और राष्ट्रपतियो ! संकल्प की महिमा पहचानो ! यह पहला आसन है। इसी की महिमा में कहा गया है **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।** याद रखना, तुम्हारी बचत का 'मुख्य भाग' अग्नि के लिए है, गौण भाग नहीं। तुम तो मुख्य क्या, गौण भी नहीं देते। ज़रा-सा यज्ञ का भाग देवों के ओठों पर लीपकर यजमान की पदवी पाना चाहते हो। यह ढोंग नहीं चलेगा। मन को बदलो मन को ! संकल्प की महिमा पहचानो !

यह दूसरा आसन 'होता' का आसन है। ये विचित्र जीव हैं। दिन-रात ठोड़ी पकड़कर कुछ सोचा करते हैं। ये भविष्य-काल के देवता हैं। इनसे जब पूछिये तो यही कहेंगे—यहाँ हमारे कारखाने में एञ्जिनघर होगा, यहाँ श्रमजीवियों के जो मकान बनेंगे उनमें इस स्थान पर फुलवाड़ी लगेगी, यहाँ क्रीड़ाक्षेत्र होगा और यहाँ गौशाला होगी। यह नक्शा बड़े परिश्रम से तैयार किया गया है। इससे पहले जितने नक्शे तैयार हुए, उनके अनुसार बननेवाले भवनों में, जो त्रुटियाँ अनुभव से पता लगीं, वे मेरे मानचित्र में नहीं रहेंगी। मैंने जो संविधान तैयार किया है, उसमें एक-एक रेखा के लिए मैं प्रमाण उपस्थित कर सकता हूँ। मैंने अन्धाधुन्ध कुछ नहीं लिखा है। मेरी एक-

एक बात प्रमाण से पुष्ट है, और वह अवश्य सुखदायक होगी। इनका वर्णन वेद ने इस प्रकार किया है—**'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्।'** यह अपनी एक-एक बात की पुष्टि ऋचाओं के बल से करके बैठे हैं। ये होता जी हैं।

अब ये 'अध्वर्यु' जी आते हैं। इनका काम है ध्वर अर्थात् हिंसा न होने देना। होता जी की बनाई कार्य-प्रणाली का एक-एक अक्षर इन्हें एक-एक कामधेनु के समान प्यारा है। फिर भला यज्ञ में उसकी हत्या कैसे होने देंगे? कहीं होता जी की भूल देखेंगे तो फिर दौड़े उन्हीं के पास जावेंगे, उन्हीं से ठीक करावेंगे। इनका काम तो है चलना और चलाना। ये यज्ञरूपी रथ का विमान करते हैं, उसे Steer करते हैं, इस नाप और इस अन्दाज से चलाते हैं कि कहीं टक्कर नहीं होने पाती। अगर सोचने का, स्कीम बनाने का बोझ भी इनपर डाल दिया जाता, तो इनमें इतनी फुर्ती नजर न आती। सोच-विचार की उलझन आई और फुर्ती भागी! ये तो फुर्ती की मूर्ति हैं। इसपर भी इन्हें अंधा या बुद्धिहीन न समझना! होता जी के गोरखधन्धे को समझना और फुर्ती से समझना इन्हीं का काम है। इनका गुण है फुर्ती, सो समझने में भी फुर्तीले और कार्य करने में भी। वेद ने इनकी महिमा इस प्रकार गाई है—**'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः।'** एक अपनी बातों को पुष्ट करता है, एक यज्ञ की निश्चित मात्रा को कार्य में ठीक उसी प्रकार परिणत करता है। सो इनका नाम है अध्वर्यु जी।

अब यह आगे जो 'उद्गाता' जी हैं, इनका भी परिचय देना आवश्यक है। भाई! इनकी मस्ती की बात न पूछो! गाते हैं; स्वयं गाते हैं और सबसे गवाते हैं। गाते क्या हैं, इनका अङ्ग-अङ्ग गाता है। संस्कृत भाषा में शरीर के अङ्गों को गात्र कहते हैं। सो क्यों कहते हैं, इन्हें देखने पर ही समझ में आता है। खूब पेट-भर खाते हैं। भला खाएँ नहीं तो गाएँ कैसे? भूखे भजन न होइ गोपाला। फिर दंड भी

खूब पेलते हैं, नहीं तो बदहजमी की मार पड़ी रहे; तब फिर भला कैसे गावें ? फिर तो वैद्य जी के द्वार पर रोया करें। परन्तु ये तो गाते हैं। किन्तु इनका काम केवल गाना ही नहीं। यह गाता नहीं, उद्गाता हैं। यह 'उद्' इनके साथ इसीलिए जोड़ा है कि इनके साथ सब मिलकर गावें, जिससे इतना ऊँचा गाना उठे कि वह गगनचुम्बी हो जाय। इन्हें निरा गवैया न समझ लेना, ये रोना भी ग़ज़ब का जानते हैं। यजमान से लेकर छोटे-से-छोटे श्रमजीवी तक कोई रोया तो ये साथ रोयेंगे—तब तक रोयेंगे, जब तक वे गाने न लगें। ये इस यज्ञरूपी मशीन के तेल हैं। अगर ये न बोलें, तो मशीन बोलने लगे और थोड़े दिनों में बोलने लायक भी न रहे। किन्तु इनके बोलने के कारण मशीन चुपचाप बिना आवाज़ किये चलती है। आजकल के यज्ञों में जहाँ कहीं पूँजीपतियों और श्रमजीवियों की मशीन चूँ-चूँ करती है, वहाँ या तो उद्गाता हैं नहीं, या हैं तो नहीं के बराबर हैं। उद्गाता के बिना यज्ञ क्या ? इसीलिए कहा—

गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।

अब आगे चलिए—यह 'ब्रह्मा' जी बैठे हैं। होता जी भविष्यकाल के देवता हैं, अध्वर्यु और उद्गाता वर्तमानकाल के। होता जी कहते थे यह होगा, वह होगा। अध्वर्यु और उद्गाता कहते थे—यों करो, यों सुधारो, यों चलाओ, यों खाओ, यों हँसो यों गाओ। अब ब्रह्मा जी भूतकाल के अधिष्ठाता हैं। इन्हें भूत-प्रेतों का अधिष्ठाता न समझ लेना ! यह देखते हैं कि काम में भूल कहाँ हुई ? सारे कारखाने का रत्ती-रत्ती भेद इन्हें पता है। कोई सोचता है, कोई दौड़ता है, कोई गाता है, किन्तु ये मौन होकर बैठते हैं और देखा करते हैं। याद रखना, ये देखते हैं—सोते नहीं; ये बोलते भी हैं। हाँ, बोलते बहुत कम हैं। पर जब बोलते हैं तो वज्र गिराते हैं। इन्हें यज्ञ की लाल झंडी कह सकते हैं। आप अपना काम ठीक-ठीक किये जाइए और यह अपने मौन की मोहर लगाते जावेंगे; किन्तु आपने ज़रा-सी भूल की और ये

बोले—ठहरो, यहाँ भूल हुई ! सारी गाड़ी खड़ी हो गई, भूल ठीक की गई। इन्होंने गाड़ी को हरी झंडी दिखाई, और फिर मौन, फिर चुपचाप। भला होता जी तो ठहरे मस्तराम, उन्हें अपनी स्कीम में दोष कहाँ दीख सकता है ! अध्वर्यु भी जो कर बैठे सो कर बैठे ! अपने किये पर थोड़ा-न-थोड़ा पक्षपात बड़े-बड़ों को भी हो जाय, तो आश्चर्य नहीं। इसलिए ब्रह्मा जी का आसन भी होना आवश्यक है। देखिये न, यह चुपचाप बैठते हैं फिर भी यज्ञ में सबसे बड़े कहलाते हैं। इन्हीं के लिए कहा—

ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम्।

अब आगे जो यह वात्सल्य की सुकुमार पवित्र मूर्ति है, यह यज्ञ-पत्नी है। यह अमृत का आसन है। यजमान के सारे संकल्प यजमान तक ही रह जावें, किन्तु जब यह यजमान की गोद में एक हँसता-खेलता पुत्र लाकर रख देती है, तो यजमान का संकल्प अमर हो जाता है। ऐ जूते, कपड़े, कुर्सी, ऊखल, मूसल, थाली, पतीला आदि के कार-खानों में काम करनेवालो ! तुम जो जूते, कपड़े, कुर्सी और थालियाँ बनाकर अकड़ रहे हो कि हमने चमड़े में जान डाल दी, कपड़े में जान डाल दी, लकड़ी में जान डाल दी, पीतल में जान डाल दी, जाओ अपनी माता के चरणों में सिर रखकर आशीर्वाद माँगो ! तुमने तो चमड़े, कपड़े, लकड़ी, पीतल में केवल कहने को जान डाली है, परन्तु उस वात्सल्यमयी जननी ने तो सचमुच तुम्हारे अन्दर जान डाली है। सिर्फ जान डाली नहीं, जान पाली भी है, और किन कष्टों से पाली है ! आओ, इस अदिति को नमस्कार करें।

अन्त में यह मन्त्र का प्रसाद लीजिए—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः॥

—ऋ० १०।७१।११

अग्नि और सूर्य

देवयज्ञ-पद्धति के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रातःकाल के अग्निहोत्र की मुख्य आहुति 'सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' आदि चार मन्त्र हैं और सायंकाल के अग्निहोत्र की 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः' आदि चार मन्त्र। इन मन्त्रों में प्रातःकाल सूर्य देवता की आहुति है और रात्रि को अग्नि देवता की। इन दो को समझने से ही अग्निहोत्र समझ में आ सकता है। अग्नि का अर्थ क्या है, हम स्पष्ट बता चुके हैं। प्रत्येक मनुष्य के सामने यह आदर्श है कि वह अपने सत्यं, यशः, श्री अथवा ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व और वैश्यत्व की अग्नि को निरन्तर चमकाता हुआ इतना चमकाए कि वह सूर्य के समान धुएँ से रहित होकर चमकने लगे। किन्तु चौबीस-के-चौबीस घण्टे अग्नि का एक-समान जलना सम्भव नहीं। जिस प्रकार सूर्य भी थोड़ी देर के लिए छिप जाता है, इसी प्रकार मनुष्य को भी जब नींद आ जाती है तब अग्नि कार्य करती नहीं दीखती। किन्तु यज्ञ द्वारा यह उपदेश दिया जाता है कि जागते समय अपने संकल्प की ऐसी लगन से सेवा करो कि वह निद्रा में भी सूर्य से घटकर अग्नि तक भले पहुँच जावे, परन्तु बुझे नहीं, और फिर प्रातःकाल उठकर उसे सोम की आहुतियों द्वारा इतना प्रज्वलित करो कि फिर सूर्य बन जावे।

शतपथ में अग्नि तथा सूर्य

सब यज्ञों का मूल संकल्प, अर्थात् इस उद्देश्य को पूर्ण करने का दृढ़ निश्चय है, जिसके लिए किसी ने अपना जीवन अर्पण किया हो। प्राचीन काल में जो उपनयन से पूर्व ब्राह्मणत्वादि वर्णों का संकल्प ग्रहण किया जाता था, वह इसी उद्देश्य से किया जाता था। किन्तु संकल्प की सफलता अकेले मनुष्य के लिए नहीं हो सकती। उसे विष्णु-शक्ति की उपासना अवश्य करनी पड़ती है, जिसकी ओर मनसापरिक्रमा-मन्त्रों में 'ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः' मन्त्र में निर्देश किया

गया है। प्रथम तो अकेला मनुष्य भी वास्तव में अकेला नहीं। मुखबाहूरुचरणादि अङ्गों के संगतिकरण के कारण वह भी वास्तव में यज्ञरूप है। किन्तु इस पुरुषरूप यज्ञ की अग्नि इसके साथ ही बुझ जाती है। यदि वह अपनी संकल्पाग्नि को स्थिर करना चाहे, तो उसे कम-से-कम एक स्त्री के साथ यज्ञ (संगतिकरण) करना पड़ता है, जिससे अपने संकल्प को 'ध्रुव' रखने के लिए वह सन्तानरूप में फिर प्रकट होता है। यह स्त्री-पुरुष का जोड़ा ध्रुवता के निमित्त सबसे छोटा यज्ञ है। किन्तु इसमें भी कुछ-न-कुछ ध्रुवता अवश्य आ जाती है। विष्णु नाम यज्ञ का है। यह स्त्री-पुरुष के सहयोग से उत्पन्न वामनतम विष्णु भी ध्रुवता अवश्य उत्पन्न करता है। अतएव कहा—

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः।

परन्तु वह ध्रुवता भी ध्रुवता नहीं, क्योंकि हो सकता है कि गर्भाधान-काल के किसी अपराध से, सन्तान की शिक्षा समाप्त होने से पूर्व व्याधि-मरणादि उपद्रवों से, पूर्व-दुष्कृतजन्य किसी दैवी दुर्विपाक से, अथवा दुष्ट संगति के दोष से, सन्तान इच्छानुकूल न हो। अतएव किसी बड़े विष्णु की उपासना करनी उचित है। इसी भावना से मनुष्य की संगठन-शक्ति ग्राम, नगर, जनपद, राष्ट्रादि के क्रम से सम्पूर्ण विश्व अथवा विराट् के संस्कार में प्रवृत्त होती है। यह आवश्यक नहीं कि इन सब क्रमों में से होकर ही मनुष्य विराट् तक पहुँचते हैं। सुशिक्षा के प्रभाव से मनुष्य सीधा ही विराट् (Humanity) की उपासना करना सीख जाता है। यह विराट् ही विष्णु है। यही यज्ञ है और इसी का फल परम ध्रुवता है। यज्ञ का मूल तत्त्व सहयोग, संगतिकरण अथवा Co-operation है। ब्रह्मयज्ञ वैयक्तिक यज्ञ है, अर्थात् इस महाविष्णु के लिए पुरुषरूप यज्ञ अपने अन्दर क्या तैयारी करे, यह ब्रह्मयज्ञ अथवा सन्ध्या में सिखाया गया है।

अब वह पुरुषरूप यज्ञ स्वयं एक महायज्ञ का अङ्ग है। उस

महायज्ञ में प्रवृत्त होने के लिए, उसे कौन-कौन-से गुणों का विशेष रूप से अभ्यास करना होगा, यह देवयज्ञ (अग्निहोत्र) में सिखाया गया है, अर्थात् इस यज्ञ में मनुष्थ में लोक-हितकारी कर्त्तव्यों (Public duties) के प्रति सच्चे आदर की भावना उत्पन्न की गई है। हम भारत-वासियों को तो इस युग में इस यज्ञ के निरन्तर अभ्यास की अपेक्षा है। हमारे देश के वे लोग भी, जो लाखों रुपये के व्यवहार में सच्चे, 'मातृवत् परदारेषु' के पूरे उपासक और स्नानादि कृत्यों में पूरे नैष्ठिक हों, सभा में समय पर पहुँचने को एक अतितुच्छ बात समझते हैं। सड़क पर पेशाब करने अथवा जलाशय में कुल्ला करने में उन्हें संकोच नहीं होता। यदि 'मनुस्मृति' आदि ग्रन्थों को देखें, तो उनमें स्पष्ट रूप से इन धर्मों का प्रतिपादन किया गया है; परन्तु न जाने क्यों, ये गुण हममें से सर्वथा लुप्त हो चुके हैं। बड़े-बड़े सच्चे तथा वीर पुरुष ईर्ष्या के वश होकर सारे राष्ट्र का सर्वनाश करने को तैयार हो जावेंगे, जब कि उन्हें पैर के नीचे चींटी आती देखकर भय होगा। इस छोटे-से किन्तु प्रत्यक्ष पाप से उन्हें दिन-भर चैन मिलना कठिन हो जायगा, किन्तु राष्ट्रद्रोह सरीखे कोटि-गुणे किन्तु अप्रत्यक्ष पाप से उनकी निद्रा में तनिक-सी बाधा भी न होगी। सारे राष्ट्र को बेचकर वे तृप्त होकर भोजन करेंगे और फिर फेन-धवल शय्या पर टाँग पसारकर सो जायेंगे। इस प्रकार के मनुष्यों को यह बारम्बार और नित्य अभ्यास कराने की आवश्यकता है कि वह कुटुम्ब के स्वार्थ को अपने स्वार्थ से, ग्राम के स्वार्थ को कुटुम्ब के स्वार्थ से, राष्ट्र के स्वार्थ को ग्राम-स्वार्थ से, और, विराट् अथवा विश्वराष्ट्र के स्वार्थ को एक राष्ट्र के स्वार्थ से सदा बड़ा समझें। उन्हें सदा याद रहे कि अन्ततोगत्वा राष्ट्र के स्वार्थ में ही उनके कुटुम्ब का और उनका भी स्वार्थ है। इसी तारतम्य को न जानने के कारण मूर्ख राजपूतों ने सेना के सामने खड़ी थोड़ी-सी गौओं की रक्षा के लिए लाखों नर-नारियों और गौओं का घात करवा डाला। यदि

वह श्रीकृष्ण सरीखे परम वैष्णव से कुछ सीखे होते, तो अन्याय के पक्ष में खड़ी गौओं की तो बात ही क्या, लोगों को भी मरवा डालते।

"आचार्य्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः"

अब भी यदि आर्य-जाति के लोग चेतें तो कल्याण हो सकता है, परन्तु अभी तो ये लोग ऐसी निद्रा में लीन हैं कि हमारे अनेक विद्याओं के धुरन्धर पण्डित लोग भी जब इकट्ठे होकर चलें, तो उनके पैर एक-साथ नहीं उठते। हमारे गुरुकुलों में व्यूह-रचना (Drill) की जो उपहसनीय दशा है, वह इस बात का कितना अच्छा प्रमाण है कि हम कितने विष्णु-द्रोही हैं!

इस वैष्णव धर्म की परायणता का पता रुद्रकर्म अर्थात् युद्ध-काल में लगता है। इसका विशेष वर्णन हमारे लिखे "मरुत्" नामक निबन्ध में देखें। किन्तु यहाँ भी उदाहरण के लिए हम सेना शब्द को ले सकते हैं। इस शब्द का अर्थ है स × इना, अर्थात् एक-साथ पैर उठाकर चलनेवाली। फिर इस शब्द के स्त्री-लिङ्ग की ओर देखिये। यह स्त्रीलिङ्ग भी कितना मार्मिक है! सेना शब्द का सम्बन्ध सेनापति शब्द के साथ है। सो तात्पर्य यह कि सुशिक्षित सैनिकों का समूह भी "सेना" नहीं कहला सकता जब तक कि वह एक सेनापति की आज्ञा का इस प्रकार अनुवर्त्तन न करे, जैसे एक पति-परायणा साध्वी अपने पति की आज्ञा का अनुवर्त्तन करती है।

अब प्रश्न यह है कि यज्ञ-धर्मों का अभ्यास बिना किसी आदर्श को सामने रक्खे नहीं हो सकता, सो अपने सामने आदर्श कौन-कौन-से रक्खे जावें? उत्तर में हर एक देश के लोग अपने-अपने देश के इतिहास से कुछ उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं। किन्तु अनादि-निधना भगवती श्रौतवाणी किसका इतिहास सुनावे? बस, यहाँ तो ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि ऋतु, सूर्य-चन्द्रादि देव, जो यह संवत्सर-रूप यज्ञ कर रहे हैं, उन्हें ही दृष्टान्त-रूप से उपस्थित किया जा सकता है। और कर्तव्य-पालन का दृष्टान्त कोई सूर्य-चन्द्रादि से अच्छा और

दे भी क्या, जो इतने नियम में चलनेवाले हैं कि सैकड़ों वर्ष पहले कहा जा सकता है कि अमुक तिथि को चन्द्र वा सूर्य-ग्रहण इतने बजकर इतने मिनट इतने सैकण्ड पर अमुक स्थान पर दीखेगा और इतना ग्रहण इतने काल के लिए लगेगा। यही तो वैष्णव धर्म के सच्चे दृष्टान्त हैं। इसीलिए शतपथ ने कहा—

स य विष्णुर्यज्ञः स। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः।

शत० १४।१।१।६

आदित्य का संकल्प के साथ एक और भी सम्बन्ध है। संकल्प सम्पूर्ण गति का जन्मदाता होने के कारण तैजस है। इधर आदित्य तो है ही इस सौर चक्र का सबसे बड़ा तेजःपुञ्ज, इसलिये आदित्य का संकल्प से सम्बन्ध स्पष्ट है।

किन्तु एक बात विचारणीय है। सूर्य तो प्रभु के अग्निकुण्ड की अग्नि है। मनुष्य को तो अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अग्नि प्रज्वलित करनी पड़ती है। उसके अनेक उपचार करने पड़ते हैं। सूर्य उसके लिए आदर्श हो सकता है, परन्तु वह तो असह्य तेजोमय जाज्वल्यमान शाश्वत तेजोराशि है। मनुष्य को अपना एक संकल्प स्फुलिङ्ग से तीव्र ज्वाला तक पहुँचाने में जो दृढ़ अध्यवसाय, जो सतत जागरूकता दिखानी पड़ती है, उसका उपदेश कैसे दिया जाय?

इसीलिए इस देवयज्ञ का मुख्य पदार्थ अग्नि है। उस अग्नि को अविश्रान्त परिस्पन्द के द्वारा धीरे-धीरे सूर्य की अवस्था तक पहुँचाना ही देवयज्ञ की सफलता है। इसीलिए कहा है—

अग्निर्व्वै यज्ञस्यावरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यः।

—शत०५।२।३।६

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने संकल्पाग्नि को इतना स्थिर करे कि प्रातःकाल उठने के साथ ही वह सूर्य बन जाय और सूर्योदय के साथ-साथ अधिकाधिक प्रतापवान् होता जाय। किन्तु रात्रि के शयनकाल में भी अग्निरूप तो अवश्य रहे। तात्पर्य यह है कि रात्रि के

अहंकार (Subconcious self) के अन्दर भी वह संकल्प जाग ही रहा हो। बुझे कभी नहीं। निद्रा में भी न बुझे।

इसीलिए सोमयाग में दीक्षित होने के समय कहता है—

अग्ने त्वꣳ सुजागृहि वयꣳ सुमन्दिषीमहि।
रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि॥

—यजु:० ४।१४; शत० ३।२।२।२२

"हे अग्ने! हम सानन्द सोएँ, पर तू जाग और अप्रमत्त होकर हमारी रक्षा कर और फिर जगा।"

क्या हमने अनेक परीक्षण करके नहीं देखा कि दृढ़ संकल्प हमें ठीक समय पर जगा देता है?

यही कारण है कि प्रात:काल अग्निहोत्र के मुख्य मन्त्रों में "सूर्य्यो ज्योति:" कहा है और सायंकाल के मन्त्रों में "अग्नि: ज्योति:"। अग्नि और सूर्य दोनों ही तो तेज हैं। इनमें भेद क्या है? एक अवराध्र्य है, दूसरा पराध्र्य। सुषुप्तावस्था की संकल्पाग्नि में जागृतावस्था की तीव्र चेष्टा सम्मिलित हो जाती है, तो वह सूर्य हो जाता है। आजकल के संकल्पहीन लोग प्रथम तो लुप्ताग्नि हैं, और यदि अचानक कहीं अग्नि हो भी, तो भी एक केन्द्र न होने के कारण मन्दाग्नि तो होते ही हैं। इसलिए आवश्यक है उन्हें अग्न्याधान, अग्निसमिन्धन, अग्निपर्युक्षणादि की शिक्षा दी जाय, जिससे उनकी अग्नि सूर्य-भाव को धारण कर सके। बस यही शिक्षा इस देवयज्ञ में दी गई है। वह किस प्रकार दी गई है, यह आगे मन्त्रों की व्याख्या में दिखायेंगे। किन्तु पहले इस विषय के मौलिक सिद्धांतों का निरीक्षण कर लें।

१. उद्देश्य-प्रणिधान

यज्ञ=विष्णु=संगठन का सबसे पहला मौलिक सिद्धान्त है,—"हर एक यज्ञ देवता का समान उद्देश्य के लिए अपने-आपको अर्पण

करना।" संगठन का अर्थ ही है 'परस्पर मिलना'। सो यह उद्देश्य ही उनको आपस में मिलाता है। इस समान उद्देश्य के लिए अपने-आपको अर्पण करने की भावना को ही हम यज्ञ-भावना अथवा उद्देश्य-प्रणिधान के नाम से पुकार सकते हैं।

२. ईर्ष्या-विजय

यज्ञ-भावना का सबसे बड़ा शत्रु ईर्ष्या है। किन्तु ईर्ष्या भी वास्तव में स्वार्थ का ही रूपान्तर है। यह उद्देश्य-प्रणिधान ईर्ष्या पर विजय में किस प्रकार सहायक होता है, यह दृष्टान्त से समझाया जा सकता है।

कहते हैं कि एक समय एक राजा के दरबार में दो स्त्रियाँ एक बच्चे के विषय में झगड़ा करती हुई उपस्थित हुईं। दोनों उस बच्चे को अपना कहती थीं। महाराज कई दिन तक यत्न करने पर भी इसका निर्णय न कर सके। अन्त को एक दिन उन्हें चिन्तित देखकर रानी ने चिंता का कारण पूछा। महाराज ने सब वृत्तान्त कह सुनाया। वृत्तान्त सुनकर रानी मुस्कराकर बोली कि देव! यह अभियोग स्त्री-जाति का है, इसका निर्णय मैं स्वयं करूँगी।

अगले दिन महारानी स्वयं सिंहासन पर विराजमान हुईं। दोनों स्त्रियाँ सामने लाई गईं। महारानी ने निर्णय दे दिया—"आराकश को बुलाकर इस बच्चे को बीचों-बीच चीरकर आधा-आधा बाँट दिया जाय!" निर्णय सुनकर दोनों में से एक बड़ी प्रसन्न हुई। बोल उठी, "क्या अच्छा निर्णय हुआ है! झगड़ा ही न रहा!" दूसरी सहम गई; बोली—"मुझे बच्चा नहीं चाहिए, मैंने अपना दावा छोड़ा, पर इसे चीरो मत!"

रानी ने कहा, "जाओ, बच्चा उसे दे दो जो कहती है मेरा नहीं। वही सच्ची माँ है, जिसे बच्चे की जान अपने अधिकार से अधिक प्यारी है।"

वही सच्चा सिपाही है, जिसे संगठन का उद्देश्य अपनी जान, अपने यश, अपने अधिकार से भी प्यारा है। इसी का नाम है उद्देश्य-प्रणिधान। यह संगठन का मूल मन्त्र है।

३. विश्वेदेवा यजमानश्च

किन्तु एक उद्देश्य के लिए प्रणिधान करनेवाले, सब-कुछ अर्पण करनेवाले, देवों का समूह भी यज्ञ नहीं कहाता। उद्देश्य की अग्नि से आगे भी उसे किसी वस्तु की अपेक्षा है। वह है क्रम (Order)। जिस संगठन में सब-के-सब नेता हों, वे सब बलिदान के अवतार ही क्यों न हों, अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते। जब तक वे एक को बड़ा बनाकर उसके शासन में नहीं चलते, तब तक क्रम-व्यवस्था अथवा यज्ञ-मर्यादा उनमें नहीं आती। यज्ञ का यजमान अवश्य चाहिए। चारों वेदों का ज्ञाता ब्रह्मा भी वहाँ बैठा हो, परन्तु यजमान फिर भी चाहिए। ब्रह्मादि "विश्वेदेवाः" उसके द्वारा ही यज्ञ को सफल बनाते हैं।

इनमें परस्पर सम्बन्ध क्या है? वह है देवपूजा और दान। ऋत्विक् यजमान के 'पूज्य' हैं और वे उसे यज्ञ-प्रक्रिया के ज्ञान का 'दान' देते हैं। इसीलिए तो वे देव हैं।

यजमान ऋत्विजों का पूज्य है, वे उसकी सदुपदेश द्वारा पूजा करते हैं, वह उन्हें दक्षिणा देता है। इसीलिए वह देव है। (यजमान देव, देखो सायण अथर्व-भाष्य ७।५।५)

यह परस्पर पूज्य-पूजक भाव ही वस्तुतः सङ्गतिकरण है। इसीलिए कहा है—

यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु।

और इसीलिए शतपथ में कहा है—

असुराः स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः अथ देवाः अन्योन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुः।

—शत० ११।१।८।१-२

इसीलिए अग्निहोत्र के दूसरे मन्त्र में कहा गया है—

अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत ।

इस मिल बैठने के स्थान में "सब देव और यजमान बैठो ।" यही यजमान का अन्य देवों से पथक्करण संगठन के इस मौलिक रहस्य को बता रहा है कि जब तक एक शासन करनेवाला पृथक् न हो, यज्ञ नहीं हो सकता ।

४. अनासक्ति

यहाँ तक तो यज्ञ के आरम्भ का वर्णन हुआ । किन्तु बहुधा देखा जाता है कि यज्ञारम्भ में उद्देश्य-प्रणिधान की भावना से कार्य करके भी फल-प्राप्ति होने पर लोग मदोन्मत्त हो जाते हैं । इसलिए आवश्यकता है कि फल की प्राप्ति होने पर भी मनुष्य उस फल को अपना न समझे । यही बात यज्ञमात्र में बारम्बार **"इदन्न मम"** कहकर दोहराई जाती है और फिर भी कल्पसूत्रकार नहीं थकते । यह प्राप्त फल में आसक्त न होना यज्ञ का चौथा मौलिक सिद्धान्त है ।

५. निचुम्पुण भावना

हमारे संगठनों की निष्फलता का एक कारण फलातुरता है । हम आरम्भशर हैं । प्रथम ही बड़े फल की आशा से हल्ले के साथ कार्य आरम्भ करते हैं, किन्तु उतना शीघ्र फल न मिलने से थोड़े दिन में हताश होकर बैठ जाते हैं । वेद कहता है—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।

—ऋग्० १।८९।१

अर्थात् हमारे सब कार्य उद्भिद् हों । जिस प्रकार वृक्ष पहले बीजमात्र और फिर अंकुर-शाखा-प्रशाखा क्रम से ऊपर की ओर बढ़ते हैं, इसी प्रकार हमारे कार्य पहले छोटे हों और फिर धीरे-धीरे बढ़ते जावें । इससे उलटा न हो ।

इसीलिए कहा है—

निचेरुरसि निचुम्पुणः। —यजु:० ८।२७

"हे यज्ञ को समाप्ति तक पहुँचानेवाले धीर यजमान ! तू इसलिए सफल हुआ है क्योंकि तू धैर्य-पूर्वक चुपचाप (चुप मन्दायाङ्गतौ, निचुम्पुणः) मन्दगति से चलता गया है, किन्तु चलता अवश्य गया है। यह निचेरु और निचुम्पुण का संयोग ही तेरी सफलता का कारण हुआ है।"

अग्निहोत्र में इसी भाव को सामने रखकर हवनकुण्ड की रचना नीचे से छोटी और ऊपर से चौड़ी 'उद्भिद्' (Growing upwards) की गई है। इसीलिए जो हवनकुण्ड को उलटा करते हैं अर्थात् आरम्भशूर और परिणामभीरु होते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं।

६. अदब्धता

यज्ञ का अगला तत्त्व अदब्धता है। अदब्धता का अर्थ है—किसी कार्य को पूरा करने के लिए जितना कम-से-कम समय लगे और जितनी कम-से-कम सामग्री व्यय हो, उतना ही करना यज्ञ का धर्म है। जो ऐसा नहीं करता, वह यज्ञांश की चोरी करता है। यह भाव यज्ञ में सीधी रेखा द्वारा दिखाया गया है। यदि किसी कार्य के करने में जो कम-से-कम समय अथवा सामग्री अपेक्षित हो, उसे शुल्वतन्त्र से (Graphically) दिखाना हो, तो दो बिन्दुओं के बीच जो सबसे छोटी रेखा अर्थात् सीधी रेखा है, उसी के द्वारा दिखाया जा सकता है। यही बात वेद में इस प्रकार कही गई है—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।

—ऋ० १।८९।१

अर्थात्—"हमारे यज्ञ उद्भिद् हों और चारों ओर से अदब्ध (Uncrooked) हों।"

७. वषट्कार और स्वाहाकार

कर्म किस प्रकार करना चाहिए ? इसका उत्तर यह है 'स्वाहा' अर्थात् हर एक आहुति इस प्रकार दी जानी चाहिए कि पीछे से कर्त्ता सु+आह, ठीक हो गया, ऐसा कह सके। यह स्वाहाकार ही जर्मनी का Cult of efficiency है। स्वाहाकार तक पहुँचने के दो मार्ग हैं—स्विष्टकार और वषट्कार। वषट्कार का अर्थ है Thoroughness, अर्थात् अधकचरा काम करके सन्तुष्ट न हो जाना। चाहे एक दीवार को तोड़कर दस बार बनाना पड़े, परन्तु बने पूरी माप के अनुकूल। इस Attention to detail द्वारा कार्य को पूर्णता तक पहुँचाने का नाम वषट्कार है।

वषट्कार का स्वरूप ब्राह्मणों में इस प्रकार है—

वज्रो वै वषट्कारः। —श० १।३।३।१४

देवपात्रं वा एष यद् वषट्कारः।
—श० १।७।२।१३

एते वै वषट्कारस्य प्रियतमे तनू यदोजश्च सहश्च।
—कौ० ३।५

ओजश्च वै सहश्च वषट्कारस्य प्रियतमे तन्वौ।
—ऐ० ३।८

जिसके कारण काम करने में एक मस्ती आती है, जो आराम से बैठे वीर पुरुषों को सङ्कट को निमन्त्रण देने के लिए प्रेरणा करती है, उस शक्ति का नाम ओज है। जिससे विघ्नों पर विघ्न पड़ने पर भी, सम्पूर्ण साथियों द्वारा छोड़े जाने पर भी, मनुष्य दाँत भींचकर अकेला लगा रहता है, उस शक्ति का नाम सहः है। एक भड़कीली और तीव्र-गामिनी है, दूसरी अड़ियल।

किसी कार्य को परिपूर्णता तक पहुँचाने के लिए इन दोनों गुणों की आवश्यकता होती है। कई मनुष्यों में सहः तो होता है, परन्तु ओज नहीं होता। अतः वे एक ही पुरानी चाल को कोल्हू के बैल की तरह

ढोए लिये जाते हैं। उनका धैर्य प्रशंसनीय है। परन्तु उनमें उड़ान नहीं। वे सहस्वी हैं, ओजस्वी नहीं। दूसरी ओर कई लोग नई उड़ान लेते हैं; एक बार संसार को चकित करके, चौंधियाकर, उल्कापात की तरह व्योम में विलीन हो जाते हैं। वे ओजस्वी हैं, सहस्वी नहीं। किन्तु वषट्कार के लिए, सर्वांग-सम्पन्नता के लिए, ये दोनों ही गुण अपेक्षित हैं। अतः कहा कि—

एते वै वषट्कारस्य प्रियतमे तनू यदोजश्च सहश्च।

ओजः के कारण मनुष्य नवीनता उत्पन्न करता है। वषट्कार द्वारा परखता है, देखता है, ठीक नहीं बना तो फिर वह घबरा नहीं उठता, उसे तोड़ डालता है। इसलिए कहा—'**वज्रो वै वषट्कारः।**' अब तोड़कर फिर बनाने चला। जब वह परिपूर्ण हो गया, तो अब वह बनानेवाले की प्रतिभा का पात्र है। जिस देवता के लिए बनाया गया था, उसके सामने कर्त्ता की प्रतिमा इस पात्र में छलकती हुई आती है। और देवता कहता है कि '**सर्वं वै पूर्णम्।**' इसीलिए कहा—'**देवपात्रं वा एष वषट्कारः।**' अब इसके साथ ही स्विष्टकार का भी अर्थ सुनिए—

८. स्विष्टकार

वषट्कार के साथ ही जो दूसरी भावना लगी है, वह है स्विष्टकार। वषट्कार का भाव है कि कोई अंग छूट न जावे, कार्य सर्वांग-सम्पन्न हो। स्विष्टकार का अर्थ है कि नियत क्रम से न्यून अथवा अधिक न हो। इसे अंग्रेज़ी भाषा में Accuracy अथवा Exactitude कहते हैं। दूसरी ओर वषट्कार का भाव है Thoroughness। ये दोनों मिलकर स्वाहाकार (Efficiency) उत्पन्न करते हैं। स्विष्टकार का भाव स्विष्टकृत् मन्त्र में स्पष्ट है—

यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचम् यद्वा न्यूनमिहाकरम् अग्निष्टत् स्विष्टकृद्विद्यात्।

"अग्नि स्विष्टकृत् है, मैंने यदि इस कार्य में कुछ अधिक किया अथवा न्यून किया तो उसे स्विष्टकृत् अग्नि जाने।"

यहाँ स्विष्टकृत् स्पष्ट ही न्यून तथा अतिरिक्त का विरोधी होकर आया है। इससे स्पष्ट है कि स्विष्ट का अर्थ Exact है। कदाचित् यह Exact शब्द उत्पन्न ही स्विष्ट से हुआ हो, तो आश्चर्य नहीं। अस्तु, यह अपभ्रंश-शास्त्र (Philology) के जाननेवाले जानें। हमें तो यहाँ स्विष्ट का अर्थ बताना अभीष्ट था, सो स्पष्ट कर दिया।

इस प्रकार संकल्पाग्नि, उद्देश्य-प्रणिधान, ईर्ष्या-विजय, पूज्य-पूजक-भाव, अनासक्ति, अदब्धता, निचुम्पुण भावना, स्विष्टकार, वषट्कार तथा स्वाहाकार की व्याख्या करके यज्ञ-चक्र की ओर आते हैं, जिसमें दिखाया जायगा कि छोटे यज्ञ का बड़े यज्ञ के साथ क्य· सम्बन्ध है—

९. यज्ञ-चक्र

यज्ञ का अर्थ संगठन है। परन्तु डाकुओं का संगठन भी तो संगठन ही है, तो क्या उसे भी यज्ञ कहना चाहिए? उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि एक अंश में वह भी यज्ञ है। जिस अंश तक हर एक डाकू अपने स्वार्थ को अपने दल के लिए बलिदान कर रहा है, उस अंश तक यह भी एक छोटा-सा यज्ञ है। परन्तु यह दूषित यज्ञ है। क्योंकि यह अपने से एक बड़े यज्ञ का, अर्थात् राष्ट्र अथवा मानव-समाज के हित का, विघात करता है। इसी प्रकार एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर बलपूर्वक राज्य करने के लिए जाना भी एक यज्ञ है। परन्तु यह भी दूषित यज्ञ है। क्योंकि जहाँ तक प्रत्येक राष्ट्र का सैनिक अपने राष्ट्र के हित के लिए अपने-आपको बलिदान करता है, वहाँ तक वह यज्ञ करता है। किन्तु जब वह दूसरे राष्ट्रों का विघात करता है, तो वह विश्व के विशाल राष्ट्र के हित का नाश करता है, इसलिए इस अंश में वह दूषित है।

अब हमें एक कसौटी प्राप्त हो गई, जिसे हम किसी भी यज्ञ में कितना वास्तविक यज्ञांश है, अच्छी प्रकार जान सकते हैं। वह कसौटी यज्ञ-चक्र की है।

इस ब्रह्माण्ड में ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि भिन्न-भिन्न ऋतुएँ एक-दूसरी की सहायिका होकर संसाररूपी यज्ञ कर रही हैं, अर्थात् उत्तम अनाज आदि सस्यसम्पत्ति तथा फल-फूल आदि द्वारा इस धरती को बसा रही हैं। यही संवत्सर का अर्थ है—'सम' का अर्थ है 'एक साथ मिलकर' और 'वत्सर' का अर्थ है बसानेवाला। यदि इस संसार में केवल ग्रीष्म ऋतु ही होती, तो यह संसार झुलस जाता; यदि केवल शरद् होती तो सब-कुछ दबा-का-दबा रहता; परन्तु अब ये ही तीनों ऋतुएँ एक-दूसरी की सहायता करती हैं। ग्रीष्म से संसार की सफाई होती है और सड़ाँद का नाश होता है, सम्पूर्ण दोष भस्मीभूत होते हैं और फिर उससे चारों ओर हरियावल छा जाती है। बीज से अंकुर, अंकुर से पल्लव, पल्लव से शाखा, शाखा से फल, चारों ओर वृद्धि-ही-वृद्धि दिखाई देती है। परन्तु यह हरियावल कभी परिपाक को प्राप्त न हो और नई उत्पाद-शक्ति संचय न कर सके, यदि शरद् ऋतु कुछ काल के लिए विश्राम देने न आ जाए। शरद् का संवत्सर-यज्ञ में वही स्थान है जो शरीर में निद्रा का। इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड के अन्दर जो विशाल यज्ञ हो रहा है, उसमें जो सस्य-सम्पत्ति और फल-फूल उत्पन्न हुए, उनका भोजनशाला में आकर संगठन हुआ। आटा आग्नेय पदार्थ था, जल सौम्य था, घृत अग्नीषोमीय था। इनके साथ अग्नि का संयोग हुआ। सबने मिलकर जो यज्ञ किया, उससे उत्तम भोजन उत्पन्न हुआ। उस भोजन को खाने के लिए शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों ने व्यायाम द्वारा अग्नि उत्पन्न की। नेत्र, रसना आदि ब्राह्मणों ने उसकी पड़ताल की, दाँतों ने पेषण किया, जिह्वा ने पाचक रस प्रदान किया, इसी प्रकार इस सारे राष्ट्र ने मिलकर वीर्य का बिन्दु उत्पन्न किया। उसे ग्रहण करने के लिए किसी सवर्ण युवती ने

अग्नि उत्पन्न की। उसमें आहुति होने पर एक बालक उत्पन्न हुआ। बालक ने अपने-आपको राष्ट्र के लिए अर्पण किया। राष्ट्र ने अपने-आपको मानव-विश्व के अर्पण किया। मानव-विश्व ने अपना कार्य ऐसी सुव्यवस्था से चलाया कि जिससे लता, वृक्ष, वनस्पति, पशु, पक्षी, जल, वायु आदि में किसी का अनुचित उपघात न हुआ और दोषों का नाश हुआ। तो अब यह पुरुष, जिसे ब्रह्माण्ड-यज्ञ ने पैदा किया था, फिर ब्रह्माण्ड-यज्ञ को पूरा कर रहा है। इसका नाम यज्ञ-चक्र है। इसी के विषय में भगवान् वेद ने कहा है "**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।**" इसी वेद के वाक्य को महर्षि वेदव्यास ने "**देवान् भावयताऽनेन ते देवाः भावयन्तु वः**" इन शब्दों में दोहराया है। आगे चलकर गीता में इसी अध्याय के सोलहवें श्लोक में स्पष्ट शब्दों में "**एवं प्रवर्त्तितं चक्रम्**" इस प्रकार इस यज्ञ-चक्र का वर्णन किया है। इस यज्ञ-चक्र की शृंखला में जो कोई ब्रह्माण्ड-यज्ञ की ओर आते हुए अपने से अगली विशालतर कड़ी का उपघात करता है, तो उतने अंश में वह यज्ञ-चक्र का विध्वंस करता है, और इसीलिए वह अपने-आप में यज्ञ होते हुए भी बड़े यज्ञ का विघातक होने से दूषित है।

कभी-कभी देखने में आता है कि सारे राष्ट्र की शक्ति एक ही व्यक्ति की रक्षा में लग रही होती है। प्रश्न हो सकता है कि क्या वह भी यज्ञ है? उत्तर 'हाँ' में है। व्यक्तियों की रक्षा में राष्ट्र दो ही अवस्थाओं में लग सकता है। या तो उस व्यक्ति में कोई ऐसा गुण हो जिससे सारे राष्ट्र का उपकार होता हो, या उस व्यक्ति की रक्षा के पीछे कोई ऐसा सिद्धान्त काम कर रहा हो जिसके अपमान से सारे राष्ट्र के संगठन का विध्वंस होता हो। उदाहरण के लिए राष्ट्र का एक वैज्ञानिक है, जो राष्ट्र की रक्षा के लिए उपयोग में आनेवाले अस्त्र-शस्त्रों का एकमात्र ज्ञाता है। अथवा, राष्ट्र का एक दूत है जो किसी दूसरे राष्ट्र में बातचीत करने के लिए प्रतिनिधि होकर गया है। पहली अवस्था में उसकी विद्या राष्ट्र को उसकी रक्षा के लिए

प्रेरित करती है। दूसरी अवस्था में उसका राष्ट्र का प्रतिनिधि होना है। परन्तु अन्ततः परिणाम यह निकलता है कि क्योंकि इनका जीवन और आँखें मनुष्यों के लिए उपयोगी हैं, अतः उनकी रक्षा सहस्रों जानें व्यय करके भी की जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि यज्ञ-भावना का अर्थ क्या है। यज्ञ-भावना का अर्थ है—"छोटे समुदाय का बड़े समुदाय के लिए अपने-आपको अर्पण करना।" इसलिए इस भावना के सिखाने का साधन भी ऐसा होना चहिए, जिसमें परस्पर उपकारकता स्पष्ट दीखती हो। उदाहरण के लिए, यदि जल का जल में हवन करें अथवा मिट्टी का मिट्टी में हवन करें, तो उसमें परस्पर उपकारकता का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता और न ही वृद्धि का अनुभव होता है; हाँ, यदि धरती में बीज का हवन करें तो वहाँ जल, मिट्टी और बीज के संयोग से परस्पर उपकारकता दीखने लगती है और बीज के बलिदान का दृश्य भी सामने आता है। परन्तु यह दृश्य अपने इस रूप को प्रकट करने के लिए बड़ा समय माँगता है। हाँ, यदि अग्नि में घृत, समिधा तथा सुगन्धित पदार्थों का हवन करें तो उससे उत्पन्न होने वाली ज्वाला निरन्तर चेष्टा, तीव्रगति उससे उत्पन्न होनेवाला प्रकाश चारों तरफ होनेवाला सौरभ-विस्तार परस्पर उपकारकता व आहुतियों के आरम्भ और समर्पण का दृश्य यज्ञ के सर्वांग-सम्पन्न रूप को एकदम हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। इसीलिए अग्नि को ही कल्पसूत्र-कारों ने कर्मकाण्ड की विद्या सिखाने का मुख्य साधन माना है।

संगठन के दो मुख्य भाग हैं—एक देव, दूसरे पुजारी, अर्थात् एक आज्ञा देनेवाला और दूसरा कहना माननेवाला। संसार का कोई संगठन इन दो अंगों के बिना नहीं चल सकता। जिन संगठनों में सब-के-सब आज्ञा देते हों, वहाँ परस्पर कितनी भी प्रीति हो, वे अपना काम नहीं चला सकते। सलाह सबकी सुनी जाय, समय-समय पर जो जिस क्षेत्र का पंडित हो, उसकी बात मानी भी जाय, परन्तु मानने न मानने का काम भी तो किसी एक के अर्पण करना ही पड़ेगा। बस, इसी को यज्ञ की भाषा में 'विश्वेदेवाः' और 'यजमान'

के नाम से पुकारा गया है। यजमान इन्द्र है। क्षेत्र-भेद से हर एक देव अपने समय में इन्द्र-पदवी पा सकता है। जिस यज्ञ का वह यजमान है, उसका वही इन्द्र है। इसीलिए कहा है—

इन्द्रो यजमानः।

—श० २।१।२।११;४।५।४।८; ५।१।३।४

अब देवराज 'इन्द्र' और 'विश्वेदेवाः' में परस्पर सम्बन्ध क्या होना चाहिए, इसपर विचार करना आवश्यक है। सबसे पहली वस्तु यज्ञ-भावना, अर्थात् समुदाय के स्वार्थ के लिए, अपना स्वार्थ बलिदान करने की तत्परता है। यह तो सभी देवों में होनी चाहिए। परन्तु जब उनमें शिष्य और शास्ता का—विधेय और विधाता का भेद उत्पन्न कर दिया, तो उनके कर्तव्य में भी भेद होना चाहिए।

विधेयों का एक ही कर्तव्य है, वह है—आज्ञा-पालन। दूसरी ओर विधाता इन्द्र अथवा यजमान का कर्तव्य है कि वह जो आज्ञा पालन कराना चाहता है, उसपर चलने के लिए स्वयं भी तैयार हो। दूसरे, वह अपने विधेयों में किसी को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को सिद्ध करने का साधन न बनावे। बस, इन्हीं उपदेशों को अभिनय द्वारा जीवित-जागृत बनाने के लिए कल्पसूत्रकारों ने जिस दिव्य पवित्र नाटक की रचना की है, उसका नाम अग्निहोत्र है।

अग्निहोत्र का मुख्य पदार्थ अग्नि है। वह इस कार्य के लिए क्यों चुना गया, इसका वर्णन हम पहले कर आए हैं। अब सबसे पहली क्रिया 'अग्न्याधान' का वर्णन करते हैं। यजमान को, जो कार्य वह दूसरों से कराना चाहता है, उसे करने के लिए सबसे प्रथम स्वयं तैयार होना चाहिए। इसीलिए अग्न्याधान के मन्त्र में उत्तम पुरुष का प्रयोग किया जाता है। यह नहीं कहा गया कि 'अग्न्याधान करें', यह नहीं कहा गया 'तुम अग्न्याधान करो', प्रत्युत कहा गया है कि सबसे पहले "मैं अग्न्याधान करता हूँ।" इसीलिए अग्न्याधान के प्रथम मन्त्र की समाप्ति 'अग्निम् आदधे' इन शब्दों से होती है।

१०. ब्रह्म-प्रणिधान

यह भावना, अर्थात् बड़े समुदाय के लिए छोटे समुदाय को अर्पण करने की भावना ईश्वर-विश्वास के बिना भी उत्पन्न की जा सकती है। परन्तु ईश्वर-प्रणिधान अथवा ईश्वरार्पण के द्वारा उसमें जो निरभिमानता और मधुरता उत्पन्न हो जाती है, वह अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकती। एक समष्टिवादी प्रजा के हित के लिए अपने-आपको अर्पण करता है। परन्तु मैंने इस प्रकार बलिदान द्वारा समाज पर एक भारी उपकार किया है—ऐसा अभिमान कुछ-न-कुछ मात्रा में उसके हृदय में उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता, और यदि समाज उसके उपकार का बदला न दे अथवा अपकार करे, तो उसका हृदय रोष-कलुषित हुए बिना नहीं रह सकता। दूसरी ओर ईश्वर-विश्वासी समाज से बदले में उपकार माँगता ही नहीं। क्योंकि, वह तो कार्य ही अपने प्रभु की आराधना के लिए कर रहा है; समाज को अहसानों के बोझ से लादने के लिए नहीं। प्रथम तो अपने प्रभु की प्रसन्नता ही उसके लिए मधुरतम फल है, और यदि इसके अतिरिक्त और किसी फल की आकांक्षा भी उसे हो, तो उसे विश्वास है कि वह उसे अपने प्रभु से प्राप्त हो जायगी। इसलिए वह समाज द्वारा किये गए अपकारों से भी रुष्ट नहीं होता। अतः आवश्यक है कि इस अग्न्याधान का साक्षी उस परब्रह्म को ही बनाया जाए। इसीलिए उस प्रभु का साक्षी करके ही इस यज्ञ का आरम्भ होता है। कहते हैं ओ३म् तू भूः है, तू भुवः है, तू स्वः है। इसलिए भूः भुवः स्वः ओ३म्! तुझे साक्षी करके मैं इस अग्नि का आधान करता हूँ। अब इन तीनों सम्बोधनों में क्या विलक्षणता है, इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है और इनका यज्ञ-भावना से क्या सम्बन्ध है, यह आगे दिखाते हैं।

संसार में जितनी भी विचारधारा है, वह ज्ञान, इच्छा और अनुभूति इन तीन भागों में बँटी हुई है। यह मनोविज्ञान का सर्वसम्मत सिद्धांत है। अतः इन तीन के परस्पर संगठन में यज्ञ का पूर्ण रूप आ

गया। ये तीन स्वरूप ही गायत्री मन्त्र की भूः, भुवः, स्वः, इन तीन महाव्याहृतियों में आ गए हैं। संसार-भर की कोई भी संगठित चेष्टा इन तीन के बाहर नहीं हो सकती। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' में भी इन्हीं तीन की व्याख्या है। सम्पूर्ण चेष्टाओं का मूल उत्पत्ति-कारण होने से ज्ञान 'भूः' कहलाता है। विस्तार के कारण 'भुवः' इच्छा का नाम है, और 'स्वः' अर्थात् सुख-अनुभूति का उपलक्षण है। इन्हीं तीन के कारण शतपथ में सैकड़ों बार दोहराया गया है **"त्रिवृद्धिः यज्ञः"** अर्थात् यज्ञ तीन-लड़ा है। सत्, चित्, आनन्द; जीव, ईश्वर, प्रकृति; सत्त्व, रजस्, तमस्; व्यवस्थापिका सभा, कार्यकारिणी सभा, न्याय-सभा; आदि इस तीन संख्या के सैकड़ों संयोग दिखाए जाते हैं। परन्तु वे सब-के-सब ज्ञान, इच्छा और अनुभूति, इन तीन से पृथक् कहीं नहीं हो सकते। इसलिए इन तीन में सम्पूर्ण जगत् का समावेश होने के कारण, कोई यन्त्र, कोई राष्ट्र, कोई ग्रन्थ, किम्बहुना, संसार का कोई भी पदार्थ तब ही कहला सकता है, जब वह हमारी इन तीनों प्रकार की प्यास को—ज्ञान-पिपासा, यत्न-पिपासा, सुख-पिपासा को मिटाता हो। इसीलिए इन तीन व्याहृतियों को महाव्याहृति कहा गया है। इन शब्दों का अर्थ आगे चलकर—

भूः	**अग्नये**	**प्राणाय**
भुवः	**वायवे**	**अपानाय**
स्वः	**आदित्याय**	**व्यानाय**

इन तीन वाक्यों में स्पष्ट होता है। चेष्टा मात्र किसी-न-किसी ज्ञान से प्रादुर्भूत होती हैं। उस ज्ञानावस्था का नाम अग्नि है। उसका काम है "अग्रे + नयनम्" आगे ले-जाना, Guide करना। किन्तु अग्नि वायु द्वारा चेष्टा करती है। स्थूल जगत् में भी जल एवं तेल आदि जब अग्नि-संयोग से वायु-रूप (Gas) की अवस्था धारण कर लेते हैं, तभी उनसे चेष्टा उत्पन्न होती है। किन्तु उस चेष्टा से और गर्मी उत्पन्न होते-होते जब वह सुख की अवस्था तक पहुँच जाती है, उस

अवस्था को ज्योतिर्मय होने के कारण "आदित्य" कहा गया है। भूः, भुवः, स्वः, यज्ञ के इन तीन अंगों की पूर्ति के लिए सबसे पहले हर एक यजमान ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्ण-संकल्प की अग्नि को अपने हृदय में स्थान देता है। प्रश्न हो सकता है कि यज्ञ-चक्र में एक अग्नि-परम्परा दिखाई गई है, फिर संकल्पाग्नि को मुख्यता क्यों दी गई? इसके लिए वेद का प्रमाण है—

मुग्धा देवा उत शुना यजन्त उत गोरंगैः पुरुधा यजन्त,
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणो वोचस्तमिहेह ब्रवः।

—अथर्व० ७।५।५

अर्थात् "यज्ञ का मर्म न समझनेवाले सैकड़ों श्रद्धालु लोग कोई कुत्ते से हवन करने लगते हैं, कोई गौ से, परन्तु वे सब कार्याकार्य-विवेक-रहित मूढ़ लोग हैं। हे भगवान्! हमें ऐसा गुरु दीजिये जो यज्ञ को मन के द्वारा जानता है, अर्थात् मानस यज्ञ जानता है; और जब ऐसा गुरु हमें मिले, तो हम उससे कहें कि हमें मानस यज्ञ का उपदेश दीजिए।"

तात्पर्य यह कि वेद कहता है—जब लोग यज्ञ के मर्म को भूल जाते हैं, तो वे द्रव्य-यज्ञ को मुख्य समझ बैठते हैं। वे समझने लगते हैं कि अमुक द्रव्य के हवन से कोई विशेष पारलौकिक चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। फिर तो वे ऊटपटाँग पदार्थों का हवन करते हैं। जो जानते हैं कि यज्ञ मुख्य रूप से मानस कर्म है, वे द्रव्य-यज्ञ करने में कभी ऐसे पदार्थ से यज्ञ नहीं कर सकते जिससे मानसिक भाव दूषित हों, क्योंकि यज्ञ का मुख्य उद्देश्य तो मानसिक भावनाओं को शुद्ध करना है।

इस प्रकार हमने दिखा दिया कि यहाँ अग्नि से मुख्य तात्पर्य मानस संकल्परूप अग्नि से है, जिसकी व्याख्या हम ब्रह्मयज्ञ में कर चुके हैं। हममें से हर एक मनुष्य उस अग्नि का इन्धन है। यज्ञ के

इन्धन कृमिदोषादि से रहित, परिपक्व होने चाहिएँ। इसलिये आमता (अपरिपक्वता) को दूर करने तथा यज्ञ-योग्य बनाने के लिए ब्रह्मयज्ञ किया जाता है। ब्रह्मयज्ञ द्वारा पवित्र किया हुआ व्यक्तिरूपी यज्ञ-काष्ठ अब उस संकल्पाग्नि को प्रज्वलित करके अपने-आपको उसमें आहुत करने की भावना हृदय में दृढ़ करता है। इसी का नाम अग्न्याधान है। जिस दिन भूमण्डल के समस्त राष्ट्रों के पुरुष यह अग्न्याधान कर लेंगे, इस भूमि का भार दूर हो जायगा।

देवयज्ञ के अङ्ग और उनका परस्पर सम्बन्ध

इस देवयज्ञ की दो पद्धतियाँ हैं—एक जो पञ्चमहायज्ञ-विधि में दी हुई है तथा दूसरी जो संस्कारविधि में दी गई है और जिसका आजकल अधिक प्रचार है। बड़ी विधि में इतने अङ्ग हैं—

(१) आचमन
(२) अग्न्याधान
(३) अग्नि-समिन्धन
(४) पर्युक्षण
(५) आघार
(६) आज्यभाग
(७) (क) प्रातःकाल की प्रधानाहुति
(ख) सायंकाल की प्रधानाहुति
(८) व्याहृति-आहुति
(९) उपसंहाराहुति
(१०) प्रार्थनाहुति
(११) पूर्णाहुति

पञ्चमहायज्ञ-विधि में जो छोटी विधि दी गई है, उसमें केवल सात, आठ, नौ और ग्यारह ये चार ही दी गई हैं।

इस पद्धति-भेद का भाव केवल इतना है कि जिसे कार्याधिक्य से

सम्पूर्ण अग्निहोत्र करने का अवकाश न हो, वह न्यून-से-न्यून इतना अवश्य कर ले, जितना पञ्चमहायज्ञ-विधि में दिया गया है।

किन्तु व्याख्या में हमने संस्कार-विधि की पद्धति की ही व्याख्या करना उचित समझा है, क्योंकि इससे दोनों में जो रहस्य है, वह स्वयं समझ में आ जायगा।

अब इन अंगों का परस्पर सम्बन्ध समझने के लिए हमें सबसे पहले प्रधान आहुतियों को लेना होगा।

प्रधान आहुतियों के देवता सूर्य और अग्नि हैं। सो भाव यह है कि अग्नि को चमकाते हुए सूर्य की अवस्था तक पहुँचाना हमारा ध्येय है, यह इन मन्त्रों में बारम्बार कहा गया है।

किन्तु यदि कोई यह पूछे कि अग्नि को सूर्य की अवस्था तक कैसे पहुँचाया जाय, तो उसकी व्याख्या एक से छठे भाग तक की गई है।

सबसे प्रथम तो यह बताया गया है कि यज्ञ के लिए सबसे आवश्यक सामग्री हैं समिधा और आज्य, अर्थात् अग्नि और सोम। समिधा अग्नि का ही प्रतिनिधि है। जब कोई कार्य आरम्भ करना चाहो, तो सबसे पहले एक को स्वयं जलना होगा। दूसरे, उसमें घृत तथा सुगन्धि की—प्रेम और पवित्रता की आहुति देंगे। बस अग्न्याधान और अग्नि-समिन्धन तक यही बताया गया है। फिर 'अदितेऽनुमन्यस्व' आदि चार मन्त्रों में अग्नि पर चार अंकुश बताए गये हैं, अर्थात् जब अग्नि इन चार मर्यादाओं का ध्यान रक्खे बिना जलती है, तब वह उपकार के स्थान में अपकार करती है और स्वयं नष्ट हो जाती है।

वे चार मर्यादायें ये हैं—

पहली अदिति, अर्थात् उपादान-द्रव्य, अथवा Material। यदि किसी के पास उद्देश्य-पूर्ति की उचित सामग्री न हो, तो सबसे पहला कार्य यह है कि वह सामग्री-सञ्चय करे, नहीं तो—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।

—गीता १८।२५

पीछे के परिणाम, उस कार्य से होनेवाला द्रव्य-क्षय, जीवहिंसा तथा कार्यकर्ताओं की शक्ति को बिना जाँचे, बिना गिने जो अन्धाधुन्ध कार्य आरम्भ करना है, यह तामस कार्य है।

इसपर कई लोग कह सकते हैं कि जो मनुष्य अकेले अपने विचारों के बल पर सारे संसार से लड़ने निकल पड़ते हैं, वे क्या इस श्रेणी में नहीं आते ? उनके प्रति हमारा कथन है कि नहीं। उन्हें अपनी शक्ति और अपने कार्य के विषय में कोई धोखा नहीं होता। वे तो स्वयं भी आनेवाले कष्टों को जानते हैं और अपने साथियों को भी बता देते हैं। किन्तु जो लोग आलस्य अथवा प्रमाद के वश अपने-आपको धोखा देकर समझ लेते हैं कि कार्य हो जायगा और अपने साथियों की भी ऐसी ही वञ्चना करते हैं, वे अदिति देवी से अनुमति लिये बिना कार्य आरम्भ करनेवाले हैं।

फिर दूसरी देवी अनुमति देवी है। जो लोग अपने सहयोगियों पर अत्याचार करके, डरा-धमका कर उन्हें अपने साथ कार्य करने पर बाधित करते हैं, वे अनुमति देवी का अपमान करते हैं।

तीसरी देवी है सरस्वती, अर्थात् विद्या। सामग्री भी हो, कार्य-कर्त्ताओं में उत्साह भी हो, किन्तु कार्य करने की पद्धति का ज्ञान प्राप्त किये बिना जो कार्य आरम्भ करते हैं, वे सरस्वती से बिना पूछे कार्य आरम्भ कर देते हैं।

फिर सबके पश्चात् धर्म अथवा राज-नियम है। जो कोई सविता देव अर्थात् परमात्मा, अथवा उसके समान गुण रखनेवाले धर्मात्मा राजा की अनुमति के बिना कार्य आरम्भ करते हैं, उनमें सामग्री, उत्साह तथा विद्या होने पर भी उनका सारा कार्य श्मशान में

श्रृंगार के समान निष्फल है। ये अग्नि के चार अंकुश हैं। इसीलिए यह मन्त्र अग्नि को रोकनेवाले जल के साथ पढ़े जाते हैं।

फिर पदार्थों के दो मुख्य प्रकार अग्नि और सोम का वर्णन है, अर्थात् अदिति देवी के ये दो प्रकार हैं। भोजन की सामग्री में आटा और जल, अग्नि तथा सोम हैं। परिवार में पति तथा पत्नी अग्नि तथा सोम हैं। यन्त्रशाला में तो अग्नि तथा सोम स्पष्ट ही अग्नि और जल के रूप में दीखते हैं। अन्यत्र भी इसी प्रकार जानना।

अब प्रजापति और इन्द्र के नाम से सामग्री की मात्रा बनाई गई है, अर्थात् सामग्री के तीन भाग करने चाहियें। एक तो वह जो अग्नि के अर्पण हो, दूसरा जिससे नई अग्नि उत्पन्न हो, और एक जो सुरक्षित रक्खा रहे। उदाहरण के लिए मनुष्य को दुकान में जो धन लगाना है, वह तीन भागों में बाँटना चाहिये—एक दुकान के माल में, एक नया माल तैयार करवाने के लिए, और कुछ आपत्तियों के लिए सुरक्षित रखना चाहिये। सो जो धन दुकान में लगा है, वह अग्नि देवता की आहुति है। जो नया माल तैयार करने में लगा है, वह प्रजापति देवता की आहुति है। जो धन सुरक्षित रख लिया गया है, वह इन्द्र देवता की आहुति है। सो इस प्रकार अग्नि, सोम, इन्द्र तथा प्रजापति की महिमा वर्णन करके यज्ञ के मुख्य देवता अग्नि की आहुति की जाती है। एक और दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक ब्राह्मण की कार्य-शक्ति उसकी सामग्री अथवा उसका सोम है। उसका सत्यरूप अग्नि में हवन होना है, अर्थात् विद्या की उन्नति में, अर्थात् पढ़ने और ग्रन्थ-लेखन आदि में उसकी शक्ति लगेगी। अब यदि वह सारी शक्ति यहीं लगा दे, तो सब अग्नि देवता के अर्पण हो गई; किन्तु जितनी शक्ति वह समाज को संगठित करने में अथवा शिष्यों को पढ़ाने में लगाता है, वह प्रजापति की आहुति है। जितनी शक्ति यह व्यायाम, हास्यप्रमोद आदि के लिए बचा लेता है, वह इन्द्र देवता के अर्पण है। अब यदि कोई मनुष्य दिन-रात पढ़ता ही रहे तो, अग्नि

उसे भस्म कर देगी। इसलिये सब देवों के समन्वय से ही कार्य करना उचित है। इस प्रकार अग्नि-समिन्धन के प्रकार, अग्नि के अंकुश और अग्नि के सामग्री-विभाग को जानकर मनुष्य अग्नि में आहुति करता है। यही मुख्य आहुति है।

अब प्रश्न उठ सकता है कि कहीं तो सारे विश्व को अग्नि और सोम में बाँटते हो, कहीं अग्नि तथा इन्द्र और प्रजापति में बाँटते हो और कहीं इन्हें भूः भुवः स्वः में बाँटते हो, यह क्या गोरखधन्धा है ? इसका उत्तर यह है कि इसमें गोरखधन्धा कुछ भी नहीं। अग्नि और सोम, ये दो भेद तो प्रकार-भेद से हैं, अर्थात् इन दो प्रकारों के कार्यकर्त्ता मिलकर संगठन को पूरा करते हैं।

इन्द्र, प्रजापति और अग्नि ये भेद मात्रा-भेद के हैं, अर्थात् यज्ञ में जितनी सामग्री कार्य में लगा दी गई, वह अग्नि देवता के अर्पण हुई, जो नया पदार्थ उत्पन्न करने में लगी वह प्रजापति के अर्पण हुई, और जो क्षतिपूर्ति तथा आपत्काल के लिए रख ली गई, वह इन्द्र देवता के अर्पण हुई। जो धन दुकान में लग गया वह दान हुआ, वह अग्नि-देव के अर्पण हुआ; जो सुरक्षित रख लिया गया, वह इन्द्र के अर्पण हुआ। ये भेद सामग्री की मात्रा के बाँटने के हैं।

अब रहे भूः भुवः स्वः, ये तीन क्रम-भेद हैं अर्थात् हर एक कार्य क्रमशः इन तीन अवस्थाओं से गुज़रता है। भूः विचारकोटि है, भुवः उसको कार्य में परिणत करने की अवस्था है और स्वः वह सुखरूप फल है जो उससे प्राप्त होता है। भूः बीज है, भुवः वृक्ष है और स्वः फल है।

यह क्रम है भी उचित। सबसे पहले यह बताया कि अग्नि के लिए कितने प्रकार के पदार्थ अपेक्षित हैं, फिर यह बताया कि उनकी मात्रा क्या होनी चाहिए, फिर कार्य-क्रम बनाया। अग्नि और सोम ये दो प्रकार हैं। इन्द्र, अग्नि, प्रजापति ये मात्राएँ हैं। भूः, भुवः, स्वः, अथवा बीज, वृक्ष, फल, ये तीन क्रम हैं।

जहाँ ये तीनों एक समय चलाने हैं वहाँ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को ये कार्य बाँट दिये जावें, तथापि क्रम यही होगा। किन्तु जब एक ही मनुष्य को तीनों कार्य करने पड़ते हैं, तो ये क्रम स्वयं स्पष्ट हो जाते हैं। पहले विचार होता है, फिर चेष्टा, फिर फल। इस प्रकार यज्ञ के भिन्न-भिन्न अङ्ग, उनका परस्पर सम्बन्ध, द्रव्यों की मात्रा और कार्य-क्रम बनाकर अब मन्त्रों की व्याख्या करते हैं।

मन्त्रों की व्याख्या

अब अग्निहोत्र (देवयज्ञ) के मन्त्रों की व्याख्या क्रम से सुनिये। सबसे प्रथम अग्न्याधान का मन्त्र लीजिये। मन्त्र इस प्रकार है—

ओं भूर्भुवः स्वः। ओ३म् भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा। तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठे अग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥

—यजुः० ३।५

वह ओ३म् भूः भी है, भुवः भी है, स्वः भी है। हे भूः भुवः, स्वः, ओ३म्! जिस प्रकार यह द्यौः सूर्य, चन्द्र, तारकादि की भूमा से (बहुतायत से) सुशोभित है, इसी प्रकार यह पृथिवी भी वरिम्णा अर्थात् सौन्दर्य से भरपूर हो जाय। यह तभी हो सकता है, जब अन्नाद अग्नि को उसका अन्न मिल जाय। इसलिये हे देवताओं के यज्ञक्षेत्र धरती माता! मैं उस तेरे पृष्ठ पर, जहाँ मैं सौन्दर्य उत्पन्न करना चाहता हूँ, अन्नाद अग्नि का स्थापन करता हूँ।

अन्नाद अग्नि से भिन्न क्रव्याद् और आमाद् दो अग्नि वेद में कहे हैं। जब कोई पदार्थ जिस निमित्त बनाया गया हो, उसके कार्य के योग्य न रहे, तब उसे क्रव्य कहते हैं। जब कोई पदार्थ तैयारी की अवस्था में हो, कच्चा हो, उसे आम कहते हैं। वेद कहता है "यज्ञ में इन दो प्रकार के पदार्थों को मत डालो!" क्रव्य की अन्त्येष्टि करो।

आम का परिपाक करो। जब वह अन्न हो जाय, तब उसे उपयोग में लाओ। संसार में एक ही पदार्थ है, जो सदा पका है। वह परमात्मा है। इसीलिये उपनिषद् में भगवान् ने कहा है—

अहमन्नम् अहमन्नादः।

'यह सारा संसार मेरा अन्न है और मैं अन्नों का अन्न हूँ।' मैं आम या क्रव्य नहीं होता। इसलिये इस सारी अन्नाद्य-क्रिया की समाप्ति तो परमान्न के भोजन में ही होती है, परन्तु आरम्भ अग्न्याधान से होता है।

शब्दार्थ—ओ३म् (भूः) जन्मभूमि (भुवः) विस्तार करनेवाली (स्वः) सुखस्वरूप है। हे ओ३म्! (भूः) जन्मदाता (भुवः) विस्तार करनेवाले (स्वः) सुखस्वरूप (द्यौः) आकाश (इव) जिस प्रकार (भूम्ना) बहुतायत से सुशोभित है, इसी प्रकार (पृथिवी) भूमि (व) भी (वरिम्णा) सौन्दर्य से भरपूर हो जाय, इस निमित्त मैं (तस्याः) उस (ते) तेरे (पृथिवी) हे पृथिवी! (देवयजनि) देवताओं के यज्ञ-क्षेत्र (पृष्ठे) पृष्ठ पर (अग्नि) अग्नि को (अन्नादम्) परिपक्वावस्था तक पहुँचे हुए पदार्थों का उपयोग लेनेवाले (अन्नाद्याय) परिपक्वावस्था तक पहुँचे हुए पदार्थों का उपयोग लेने के लिए (आदधे) स्थापन करता हूँ।

यज्ञ का मूल तत्त्व सहयोग है। अग्नि तो जलाने चले हो, परन्तु मत भूलो कि कम-से-कम जब तक एक और मनुष्य तुम्हारे साथ न मिले, तब तक यज्ञ का मुख्य घटक 'सङ्गतिकरण' उसमें नहीं आया। किन्तु साथ ही यह भी याद रहे कि उन दो में से एक मनुष्य न हो, तब तक भी यज्ञ नहीं चल सकता। यज्ञ के लिए न्यूनतम अंग दो हैं। अकेला पदार्थ कभी यज्ञ नहीं कहला सकता। यही बात अगले मन्त्र में दिखाई है—

ओम् उद्बुद्ध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳ सृजेथामयञ्च । अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ —यजु:० १५।५४

हे यजमान के हृदय में प्रसुप्त संकल्पाग्ने ! उद्बुद्ध हो । और फिर ऐसा उद्बुद्ध हो कि कभी न सोवे, सदा जागता रहे । तू और यह यजमान मिलकर इष्ट, अर्थात् सत्संग-ईश्वराराधनादि साधन धर्म, और आपूर्त जिसके बिना साधन-धर्म निरर्थक हैं, अपूर्ण हैं, जिसमें सारे धर्म की पूर्ति है, वह सदाचरणरूपी धर्म, इन दोनों को इकट्ठे मिलकर सिरजो । आज जो यह सहोद्योग के लिए इकट्ठे बैठना हुआ है, इसमें और आगामी सधस्थों में भी यजमान और उसके सहायक सम्पूर्ण देव इकट्ठे मिलकर बैठें । यहाँ ऋषि दयानन्द ने तू और यह का अर्थ स्त्री और पुरुष किया है । सो अग्निहोत्र के गृहस्थाश्रम-प्रकरण में इन दो की मुख्यता होने से यह अतिसुसङ्गत है ।

शब्दार्थ—(उद्बुद्ध्यस्व) उठ पड़ (अग्ने) अग्ने (प्रतिजागृहि) सदा जागता रह (त्वम्) तू (इष्टापूर्ते) सत्संगादि इष्ट और सदाचरणादि आपूर्त धर्मों को (संसृजेथाम्) मिलकर सिरजो (अयञ्च) और यह अर्थात् मुख्य यजमान (अस्मिन्) इस (सधस्थे) मिलकर सहोद्योग करने की बैठक में (उत्तरस्मिन्) और आगामी सहयोगों में (विश्वे देवा:) सम्पूर्ण सहायक देव अर्थात् दिव्य शक्तियुक्त लोग (यजमान:) यजमान (च) भी (अधिसीदत) बैठें ।

अब आगे यजमान और उसके सहायक देव, अर्थात् यज्ञ में संगत होनेवाले हर एक व्यक्ति में यज्ञ के प्रति क्या भावना होनी चाहिये, यह अगले मन्त्र में दिखाते हैं । मन्त्र इस प्रकार है—

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेद्ध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम ॥ —आश्व० गृह्य० १।१०।१२

हे जातवेद ! यह इन्धन, अर्थात् मैं, तेरा आत्मा है। तुझे सदा जीवित रखनेवाला है। तू इससे प्रदीप्त हो और बढ़, और जब तू प्रदीप्त हो जाय, तो हमें बढ़ा भी। प्रजा से, पशुओं से, ब्रह्मवर्चस से, अन्न-भोग से, सभी से हमें बढ़ा। बस, वही संगठन संसार में सफल होता है, जिसमें हर एक व्यक्ति दूसरे से नहीं कहता कि तू अग्नि का इन्धन है, किन्तु अपने-आपको अग्नि का इन्धन बना देता है—जहाँ हर एक संकट में दूसरे को आगे बढ़ने के लिए कहने के स्थान में, सबसे पहले अपनी आहुति करने को तैयार है।

परन्तु यज्ञ-भावना की पराकाष्ठा तो अगले छोटे-से वाक्य में है। यज्ञ में आहुति का मुख्य भाग तो अग्नि में डाल दिया जाता है, किन्तु एक छोटा-सा बूँद यह वाक्य बोलकर जल में डाल दिया जाता है। यह इस बात का सूचक है कि हर एक यजमान को अपने ऐश्वर्य का बड़ा भाग तो समाज की सेवा में ही देना चाहिये, किन्तु जो थोड़ा-सा अंश वह अपने लिए निकालता है, वह भी वस्तुतः महान् संकल्पाग्नि के ही अर्पण है। वह कहता है कि यह जो अंश मैंने अपने लिए निकाला है, यह भी इसलिए कि मैं यज्ञ की सेवा कर सकूँ। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति को भोजन करना आवश्यक है और भोजन में आनन्द लेना भी आवश्यक है, जिससे स्वस्थ शरीर से वह और कार्य कर सके। इसलिये यह स्पष्ट हुआ कि सांसारिक सुख भी इसलिये भोगता है कि उससे प्राप्त शक्ति से अधिक परोपकार कर सके। सार यह हुआ—

सच्चा यजमान यज्ञ इसीलिये नहीं करता कि उससे सुख मिले, उलटा सुख इसलिये और वहीं तक भोगता है, जिससे वह कार्य पहले की अपेक्षा दुगुने उत्साह से कर सके। मर्म यह कि साधारण मनुष्यों के जीवन में यज्ञ 'साधन' और सुख 'साध्य' है, किन्तु सच्ची यज्ञ-भावनावालों में सुख 'साधन' और यज्ञ 'साध्य है। इसीलिये वह कहता है कि यह जो एक बिन्दुमात्र भाग मैंने अपने लिए निकाला है,

यह भी मेरा नहीं है। यह भी वस्तुतः जातवेदः के अर्पण है। कार्य इसलिए नहीं करता कि वह सुख की नींद सो सके, किन्तु नींद इसलिए लेता है कि कार्य कर सके। जिस समय यह साध्य-साधन का विपर्यास अपनी पूर्णता तक पहुँच जाता है, बस जान लो कि यज्ञ-भावना पूर्णता तक पहुँच गई।

कई विद्वानों का मत है कि "इदन्न मम" कहकर जल में घृत-बिन्दु-त्याग केवल गर्भाधान-संस्कार में किया जाना चाहिये। किन्तु हमारी सम्मति में तो गर्भाधान में ऋषि ने उसका विशेष उल्लेख इसलिए कर दिया क्योंकि वहाँ इसका अभ्यंग किया जाता है, किन्तु अन्यत्र भी यह क्रिया होनी चाहिये। क्योंकि, यदि सारा ही भाग यज्ञ में डाल दिया जाय तो "इदन्न मम" यह शब्द प्रयोग करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसका सौन्दर्य तो इसी में है कि यजमान जो भाग अपने लिए निकालता है, वह भी वस्तुतः उसका नहीं है।

इसके साथ ही एक बात और ध्यान देने योग्य है। यदि सम्पूर्ण घृत, जो ठीक परिमाण से लिया जाता है, अग्नि में ही डाल दिया जाय, तो संस्कारविधि के सामान्य प्रकरण में जो ऋषि ने लिखा है कि " 'ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा' इस मन्त्र से एक आहुति देवे, ऐसे दूसरी और तीसरी आहुति दे के, जिसको दक्षिणा देनी हो दे, वा जिसको जिमाना हो जिमाके, दक्षिणा दे, सबको विदा कर स्त्री-पुरुष हुतशेष घृत, भात व मोहनभोग को प्रथम जीम के, पश्चात् रुचिपूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें।" यह हुतशेष घृत क्या है ? इससे हमारी सम्मति में "इदन्न मम" यह वाक्य बोलकर घृतबिन्दु-त्याग सब यज्ञों में करना उचित है। गर्भाधान में उसका उल्लेख ब्राह्मण-वशिष्ठ-न्यायेन अति विशेषता के लिए किया गया है।

शब्दार्थ—(अयम्) यह (ते) तेरा (इध्मः) इन्धन (आत्मा) सदा गतियुक्त रखने का साधन है (जातवेदः) पदार्थमात्र का सहयोग

प्राप्त करनेवाले अग्ने ! (तेन) उससे (इध्यस्व) प्रदीप्त हो (वर्धस्व) बढ़ (च) भी (वर्धय च) और बढ़ा भी (अस्मान्) हमें (प्रजया) प्रजा से (पशुभिः) पशुओं से (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (अन्नाद्येन) अन्नादि से (समेधय) बढ़ा (स्वाहा) यहाँ तक बढ़ा कि सब सु=आह अच्छा-ही-अच्छा कहें। (इदम्) यह अपने लिए लिया हुआ भाग (अग्नये) अग्नि के लिए (जातवेदसे) जो हर एक पैदा होनेवाले पदार्थ को प्राप्त होता है, उसके लिए है, (इदम्) यह (न) नहीं है (मम) मेरा।

यह भावना नित्य के अभ्यास से ही दृढ़ हो सकती है, इसलिए अगले मन्त्र में विधिवाक्य द्वारा भगवान् इस संकल्पाग्नि की अनवरत सेवा की आज्ञा देते हैं—

ओं समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम ॥ —यजुः० ३।१

अग्नि को समिधा से बढ़ाओ। घृताहुतियों से इस अतिथि को प्रबुद्ध करते रहो, और इसमें सदा हव्य डालते रहो। यहाँ समिध्, घृत और हव्य, ये तीन शब्द ध्यान देने योग्य हैं। किसी भी संगठन में समिध् वे अङ्ग हैं, जो सबसे पहले प्रज्वलित होकर कार्य का आरम्भ करते हैं। उसके पश्चात् घृत हैं जो स्वयं जलने का आधार नहीं बनते, किन्तु ज्वाला को भड़काने में सबसे अधिक भाग लेते हैं। हव्य वे पदार्थ हैं, जिनके निमित्त यज्ञ किया जाता है। उदाहरण के लिए, भोजन में अग्निवर्धक खाँड आदि पदार्थ समिध् हैं, रुचिवर्धक पदार्थ घृत हैं तथा अस्थि-मांस-वीर्य-मस्तिष्क आदि बनानेवाले पदार्थ हव्य हैं। रुचिवर्धक पदार्थों को घृत सुनकर सब चौंकेंगे। किन्तु घृत शब्द "घृ क्षरणदीप्त्योः" से बना है, अतएव जिस प्रकार यह घृत अग्नि की ज्वाला को बढ़ाने से घृत कहलाता है, ऐसे शरीर-प्रकरण में जठराग्नि-वर्धक पदार्थ घृत कहलायेंगे, क्योंकि उनसे जिह्वा का क्षरण होता है। राज्य के आरम्भ में नया विचार देनेवाले समिध् हैं। उन विचारों

को लोकप्रिय बनानेवाले घृत हैं, और जो उस विचार के लोक-सम्मत होने पर उसे क्रियात्मक रूप देने के लिए बुलाए जाते हैं, वे बुलाए जाने के योग्य होने के कारण हव्य हैं। इसी प्रकार यन्त्र में अग्नि को आरम्भ करनेवाले समिध्, जलीय अंश देनेवाले पैट्रोल आदि घृत, तथा अन्य पुर्जे हव्य हैं। इस प्रकार यह यज्ञ-विद्या समस्त विद्याओं में ओत-प्रोत है।

शब्दार्थ—(समिधा) समिधा से (अग्नि) अग्नि को (दुवस्यत) बढ़ाओ (घृतैः) उद्दीपक पदार्थों से (बोधयत) प्रबुद्ध करो (अतिथिम्) इस अतिथि-तुल्य अग्नि को (आ) अच्छी प्रकार (अस्मिन्) इसमें (हव्या) बुलाने योग्य पदार्थों को (जुहोतन) हवन करो।

अब घृत की अर्थात् रुचिवर्धकों की विशेष महत्ता बताने के लिए एक और मन्त्र में उसका गौरव कहते हैं—

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम॥

—यजुः० ३।२

जब यह जन्मधारी-मात्र में पाया जानेवाला जातवेदा अग्नि अच्छी प्रकार प्रदीप्त हो जाय, जगमगाने लगे, उस समय तीव्र घृत की आहुति दो।

इससे पता लगता है कि राज्य में किसी कार्य को लोकप्रिय बनानेवाला भाग अत्यावश्यक है, क्योंकि किसी राज्य का शासन जितना भी दण्ड के बल पर कम चले, उतना अच्छा है।

शब्दार्थ—(सुसमिद्धाय) अच्छी प्रकार प्रदीप्त हुए (शोचिषे) जगमगाते हुए (घृतम्) घृत को (तीव्रम्) तीव्र (जुहोतन) हवन करो (अग्नये) अग्नि के लिए अर्थात् अग्नि में (जातवेदसे) जो जन्मधारी पदार्थमात्र में विद्यमान है।

अब तक यज्ञ के आरम्भ में यजमान को विशेष स्थान देने के लिए अग्न्याधान में 'आदधे' यह एकवचन दिया गया था। अब अगले मन्त्र में यजमान और 'विश्वेदेवाः' अर्थात् उसके सब सहायक मिलकर भगवान् से प्रार्थना करते हैं। अतएव यहाँ 'वर्धयामसि' यह उत्तम पुरुष का वचन है—

तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे—इदन्न मम॥

—यजु:० ३।३

हे बुरे पदार्थों को दूर करने तथा उत्तम पदार्थों के निश्चय में वरिष्ठ अग्ने! तुम्हारी महिमा जानकर हमने तुम्हें अपने हृदय में इसी प्रकार दीप्त किया है, जिस प्रकार वेदि में स्थूल अग्नि को। सो हे दीप्यमान, अंगों के रस-भूत अग्ने! हम तुम्हें समिध् और घृत से सदा बढ़ाते रहें। तुम खूब चमको।

शब्दार्थ—(यविष्ठ्य) हे बुरी बातों को छुड़ाने तथा अच्छी बातों को मिलानेवाले (अङ्गिरः) अंगों के रस-भूत अग्ने (तं) उस महान् (त्वा) आपको (समिद्भिः) समिधाओं से तथा (घृतेन) घृत से (वर्धयामसि) बढ़ाते हैं (बृहत्) खूब (शोच) चमक।

इसके पश्चात् 'अयन्त इध्म' इस गृह्य-मन्त्र की पाँच बार आहुति हैं, जो इस बात की सूचक हैं कि पाँचभौतिक संसार का पञ्चविध ज्ञान दिलानेवाली पाँचों ही इन्द्रियाँ मेरी इस संकल्पाग्नि के अर्पण हैं। इसी को गीता में इस प्रकार कहा गया है—

सर्वाणीन्द्रियकर्म्माणि प्राणकर्म्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

—गीता ४।२७

इस पंच संख्या की विशेष व्याख्या हमारी बनाई 'स्वर्ग' नामक पुस्तक में 'पंचौदन' प्रकरण में पृ० ६० से ६४ तक देख लें।

अग्न्याधान, अग्निदीपन, यज्ञस्वरूप-निदर्शन, ये तीन अंग हो चुके। अब सोम अंश का स्वरूप यज्ञ में दिखाते हैं। अतः यहाँ स्त्री-लिंग शब्द आरम्भ हो गये। परिवार में स्त्री, राज्य में न्याय-विभाग, ललित कलाओं का विभाग तथा चिकित्साविभाग सोमांश हैं। यन्त्र-में जल, तेल आदि द्रव पदार्थ सोम हैं। शरीर में कफ सोम है। और पूर्ण पुरुष में अग्नि और सोम दोनों अंग इकट्ठे हो जाते हैं। यह पूर्ण यज्ञरूपता तो केवल परमात्मा में है, किन्तु उसके भक्तों में भी निरन्तर अभ्यास से यह अवस्था आ जाती है। अतएव कहा है—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

यह पूर्ण पुरुषों का स्वरूप है। इस स्वरूप का पूर्ण विकास उस परम पुरुष में ही हुआ है, जिसके लिए कहा है—"**तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।**" अब यजमान कहता है कि मेरी अग्नि मर्यादा को पार करके लोक को भस्म न कर दे, इसलिए—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व
"अदिते ! तू भी अनुमति दे",
ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व
"अनुमते ! तू भी अनुमति दे",
ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व
"हे सरस्वति ! तू भी अनुमति दे"—गोभिल गृह्य० १।३।१, २, ३

अदिति का विस्तार अनन्त है। परमात्मा अग्नि है। प्रकृति अदिति है, वह रूप बदल लेती है, परन्तु खण्डित नहीं होती। इसलिए जो खण्डित हो, वह दिति (दो अवखण्डने), जो खण्डित न हो वह अदिति है। द्यौ अग्नि है, पृथिवी अदिति है। पुरुष अग्नि है, पत्नी अदिति है। इसीलिए स्त्रियाँ धार्मिक विश्वासों में स्वभाव से दृढ़ होती हैं। राष्ट्र में कार्यकर्ता (Executive) अग्नि है, न्यायाधीश

(Judiciary) अदिति है, क्योंकि वह अटल है। क्योंकि अग्निहोत्र में हमने पति-पत्नी के सम्बन्ध के अर्थ मुख्य रूप से दिखाये हैं, अतः इन तीनों मन्त्रों का भाव इस प्रकार हुआ— पति को चाहिए कि (१) उपादान द्रव्य, अर्थात् उस काम के लिए ज़रूरी मसाला है या नहीं, यह देखकर काम करे, अनुमति लिये बिना कार्य न करे, फिर (२) अनुमति अर्थात् कार्यकर्त्ताओं की रज़ामन्दी के बिना कार्य न करे, फिर (३) सरस्वती अर्थात् शास्त्र-वाणी की सलाह बिना कार्य न करे। पुरुष की अग्नि पर ये तीन नियन्त्रण हैं। फिर सबसे अन्त में हर एक कार्य के करने से पहले अपने-आपको प्रभु के अर्पण करे। और जब भक्त बिलकुल निःस्वार्थ होकर उसके सामने झुकते हैं, तो उन्हें अनेक बातें सूझती हैं। इसी को दैवी प्रेरणा कहते हैं। अन्धे जोश में काम करनेवाले आग्नेय पुरुषों को नहीं सूझती। उस अवस्था के अभ्यास के लिए कहा—

देवं सवितः प्रसुवः यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिम्। भगाय दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु।

—यजुः० ११।७

हे प्रभो! जिस प्रकार आपका भेजा यह दिव्य गन्धर्व (सूर्य) मेरे घर में अपनी मीठी रागिणी गाकर हमारा घर पवित्र कर जाता है, इसी प्रकार हे गन्धर्वों के गन्धर्व! हमारे अन्तःकरणों में आकर एक बार ऐसा गा कि हमारी वाणी स्वादु हो जाय और तुझे भी मीठी लगे। आ और हमारे यज्ञ पर, हमारे यज्ञपति पर, अपनी यह मीठी कृपा कर जा। उसका कल्याण कर।

भारतीय संगीत-शास्त्र के जाननेवाले जानते हैं कि भारतीय संगीत की रागिणियाँ सूर्य के प्रकाश पर अवलम्बित हैं। ज्यों-ज्यों सूर्य का प्रकाश बढ़ता जाता है, रागिणियों का स्वरूप बदलता जाता है। रात्रि में उस प्रकाश के अभाव का जो प्रभाव होता है, उसका भी

राग पर प्रभाव होता है। फिर ऋतुओं के अनुसार वसन्त-वर्षादि के प्रभाव पर राग बदलते हैं। इसीलिए सूर्य को दिव्य गन्धर्व कहा है। उसी के स्वर में स्वर मिलाकर पृथिवीलोक के गन्धर्व गाते हैं। किन्तु वे भूल जाते हैं कि यह सूर्य भी तो सविता के स्वर में स्वर मिलाकर गा रहा है। उसी को क्यों न कहें कि **'प्रसुव यज्ञम्'**—हमारे वृन्दगीत को स्वर में चला (Orchestra को Lead कर)!

शब्दार्थ—(सवितः) सर्व-प्रेरक (देव) देव (भगाय) परमैश्वर्य के लिए (यज्ञं) हमारे यज्ञों को, संघटित समारोहों को (प्रसुव) सुमार्ग में प्रेरित कर (यज्ञपति) यज्ञकर्ता को (प्रसुव) सुमार्ग में प्रेरित कर (केतपूः) ज्ञान को पवित्र करनेवाला (दिव्य) दिव्य (गन्धर्वः) गन्धर्व (नः) हमारे (केतं) ज्ञान को (पुनातु) पवित्र करे (वाचस्पतिः) वाणी का पति वह (नः) हमारी (वाचं) वाणी को (स्वदतु) मीठा करे।

ये चारों मन्त्र यज्ञ के सोमाङ्ग को बताते हैं। अतः इनके द्वारा अग्निकुण्ड के चारों ओर जल छिड़का जाता है।

इस प्रकार अग्नि को प्रदीप्त करके आगे यज्ञ के अंगों का निरूपण करते हैं। यजमान को इन्द्र बनाना है। इन्द्र बनने से पहले उसे तीन कोटियों से से जाना है। ये तीन कोटि हैं—अग्नि, सोम और प्रजापति। इनमें से भी प्रथम दो मुख्य हैं। केवल अग्नि से यज्ञ कभी पूर्ण नहीं होता। यज्ञ के दो अंग आवश्यक हैं—अग्नि और सोम। इसीलिए शतपथ में कहा है—

"अग्नीषोमयोर्हैतावती विभूतिः प्रजातिः।"

—शत० १६।२।२।३

यह जितनी विभूति है, वह अग्निसोम की है। परिवार ही ले लीजिये। यहाँ पति अग्नि और पत्नी सोम है। जब तक ये दोनों न मिलें, यजमान प्रजापति नहीं बन सकता। और जबतक अग्नि, सोम और प्रजा तीनों न मिलें, तबतक यजमान इन्द्र नहीं बन सकता। अतएव सब संगठनों का एक नियम बताते हैं कि संगठन तब पूरा

होता है, जब उसमें गत्युत्पादक, गतिनिरोधक, और शक्ति आगे भी चलती रहे। इसके लिए आवश्यक उसका कोष, ये तीन भाग नहीं हो जाते। ये तीन जब इकट्ठे हों, तब ऐश्वर्य उत्पन्न होता है। अब यही विभाग आगे मन्त्रों में हैं—

ओम् अग्नये स्वाहा। इदमग्नये—इदन्न मम।

'यज्ञ में अग्नि के लिए भाग निकालो, तब ही ठीक है (स्वाहा)। यह अग्नि के लिए है, मेरा नहीं।'

ओं सोमाय स्वाहा। इदं सोमाय—इदन्न मम।

'सोम के लिए भाग निकालो, तब ही ठीक है। यह सोम के लिए है, मेरा नहीं।'

ओं प्रजापतये स्वाहा। इदं प्रजापतये इदन्न मम।

'दोनों मिलकर आगे सन्तति को स्थिर रक्खें, इसके लिए भी भाग निकालो। यह प्रजापति के लिए है, मेरा नहीं है।'

ओम् इन्द्राय स्वाहा। इदमिन्द्राय—इदन्न मम।

'जब परम इन्द्र परमात्मा का स्वरूप मुझमें आ जाय, तब ही ठीक है। यह इन्द्रत्व के लिए है, मेरा नहीं।

परिवार में पुरुष अग्नि है। अग्नित्व का आदर्श सूर्य है। संकल्पाग्नि को चमकाते-चमकाते सूर्य की अवस्था तक पहुँचा देना है। जिस परिवार के पुरुष सूर्य बनते हैं, वहाँ स्त्रियाँ भी अपनी अग्नि को सूर्य की अवस्था तक पहुँचा देती हैं। इस संकल्पाग्नि को नष्ट करनेवाले काम का नाम भी संकल्प-योनि है। अतः संकल्पाग्नि के प्रकरण में ही वीर्य की महिमा कही गई है। सूर्य तथा अग्नि को 'शतपथ ब्राह्मण' में 'वीर्य का देवता' कहा गया है। अतः यह ज्ञानाग्नि को पराकाष्ठा तक पहुँचानेवाली, सूर्यावस्था तक ले-जानेवाली आहुतियाँ ही देवयज्ञ की मुख्य आहुतियाँ कही गई हैं। पुरुष प्रातःकाल उठकर अपने कार्य में लगता है। उधर सूर्य उदय हुआ और कार्य-रूप में देदीप्यमान हुआ। जिसने अपनी सारी शक्ति लगा दी, उसका सूर्य पूर्ण रूप से

उदय हुआ। उसका वीर्य कदापि नष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि रात्रि को निद्रा में भी उसका सूर्य नष्ट नहीं हुआ, लोकान्तर में चला गया है—जागृत से सुषुप्त वा स्वप्न में चला गया है। प्रबुद्ध चेतना (Concious self) से अप्रबुद्ध चेतना (Subconcious self) में चला गया है। किन्तु जो वृत्र, अर्थात् भोग के अधीन हो जाते हैं, उनका सूर्य मन्द हो जाता है। इसी वीर्य द्वारा संकल्प, और संकल्प द्वारा वीर्य को दीप्त करनेवाली आहुतियों को अग्निहोत्र की मुख्य आहुतियाँ कहाँ गया है। यहाँ शतपथ के कुछ वाक्य उद्धृत करना आवश्यक है—

सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्। —शत० २।३।१।१

'अर्थात्—सूर्य अग्निहोत्र है।'

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति तदुभयतो ज्योती रेतोदेवतया परिगृह्णाति। —शत० २।३।१।३२

अर्थात्—'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' यह जो कहता है, ज्योति को दोनों ओर से वीर्य के देवता से घेरता है।'

सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तदुभयतो ज्योती रेतोदेवतया परिगृह्णाति। —शत० २।३।१।३३

अर्थात्—'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः' यह जो कहता है, ज्योति को दोनों ओर से वीर्य के देवता से घेरता है।'

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा। —यजु:० ३।९

इस मन्त्र में ज्योति शब्द से वीर्य की ज्ञान-वर्धक शक्ति का वर्णन किया। अब शरीर को किस प्रकार दीप्तियुक्त करता है, इसका वर्णन करते हैं—

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। —यजु:० ३।९

"वीर्य शरीर में वर्चः अर्थात् दीप्ति के रूप में प्रकट होता है (वर्च दीप्तौ)।' जिसका वीर्य स्थिर होता है, उसका मन ज्योतिष्मान् और

शरीर दीप्तिमान् होता है। जहाँ मन में संकल्प स्थिर होता है, वहाँ शरीर कान्तिमान् होता है।

फिर मानसिक शक्ति का वीर्य-रक्षा के साथ गहरा सम्बन्ध दिखाने के लिए उसे फिर दोहराते हैं—

ओं ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा। —यजु:० ३।९

"निर्मल ज्ञान-शक्ति ही वीर्य है और वीर्य ही निर्मल ज्ञानशक्ति है।"

अगले मन्त्र में इन्द्र और उषा के जोड़े का वर्णन है। ब्रह्मचारी के पक्ष में वह मन्त्र गुरु और गुरुपत्नी की ओर निर्देश करता है, गृहस्थ लोगों के सम्बन्ध में पति-पत्नी के जोड़े की ओर। और यदि किसी का गुरु नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो, तो उस गुरु के हृदय में विद्यमान उग्र ज्ञान और कोमल शिष्यवत्सलता के जोड़े की ओर निर्देश करता है। प्रातःकाल का समय हुआ है, गृहस्थ अपने कार्य की ओर चला है, शिष्य अपनी पाठशाला को। पति-पत्नी का जोड़ा कहता है कि सम्पूर्ण जगत् के प्रेरणा करनेवाले देव सविता के साथ मिला हुआ उसकी सेवा में तत्पर यह सूर्य-प्रकाश और उषा का जोड़ा प्रातःकाल हमारे घर में दर्शन दे और हमें उपदेश कर जावे। पत्नी का धर्म है प्रातः प्रफुल्ल हृदय से हँसती हुई पति को कार्य पर भेजे। उसका चेहरा उषा की भाँति खिल रहा हो और उसके कार्य में बाधक न हो। उसे घर-घुसना न बनने दे। प्रातःकाल वे थोड़े समय के लिए सूर्य के प्रकाश और उषा की भाँति इकट्ठे होते हैं। जैसे ही पति का संकल्प जागकर सूर्य बना कि उषा विदा हुई। सो वह उसे उत्साह भरने के लिए हँसती हुई एक बार दर्शन देती है। फिर सूर्य-ही-सूर्य दिखता है।

ब्रह्मचारी अपने गुरु के विषय में प्रार्थना करता है कि मेरे गुरु और मेरी गुरुपत्नी का जोड़ा सूर्य-प्रकाश और उषा के जोड़े की भाँति

मुझपर सदा आशीर्वादमयी छाया बनाये रक्खे। यदि गुरु नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो, तो शिष्य की प्रार्थना का भाव इस प्रकार होगा कि देदीप्यमान ज्ञान और सुकुमार शिष्य-वत्सलता का जोड़ा उषा और सूर्य-प्रकाश के जोड़े की भाँति सदा मेरे गुरु के हृदय में विराजे और उसके द्वारा मेरी कुटी में भी पधारे।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा। —यजुः० ३।१०

शब्दार्थ—(देवेन) देव (सवित्रा) सविता के साथ (सजूः) सेवा-युक्त अर्थात् देव सविता की आज्ञा में तत्पर तथा (इन्द्रवत्या उषसा) सूर्य-प्रकाशवती उषा के साथ (सजूः) प्रीतियुक्त अर्थात् प्रकाशवती उषा के प्रति प्रीतिमान् (सूर्यः) सूर्य (वेतु) मेरे घर में प्राप्त हो।

सविता के लिए शतपथ १।१।२।१७ में लिखा है—

सविता वै देवानां प्रसविता
देव सवितः प्र सुव यज्ञम्॥
विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव॥

इत्यादि मन्त्रों से भी सविता परमात्मा का वह रूप स्पष्ट है, जो राज्य में नियम-निर्माता (Lagislator) के रूप में प्रकट होता है (इसकी विशेष व्याख्या शतपथ-भाष्य पृ० २६ तथा ११७ में देख लें)। इससे यह ध्वनि निकलती है कि राजा को इस बात का ध्यान सदा रखना चाहिए कि उसके राज्य में कोई मनुष्य निष्कारण (अर्थात् रोगी आदि विवशता के कारणों को छोड़कर) घर में न पड़ा रहे। जो लोग केवल सूद पर जीवन बिताते हैं, उन्हें इसीलिए शतपथ में असुर कहा है। —शत० १३।४।३।११

जो प्रजाजन सविता देव के साथ सजूः होगा, अर्थात् परमात्मा और तदनुवर्ती उत्तम राज्य-नियम बनानेवाले उत्तम राजा के साथ

सजूः होगा, वह घर में घुसकर नहीं बैठ सकता। वह अवश्य प्रातः-काल अपने काम पर चला जायगा। तभी उसका गृहस्थाश्रम वास्तव में सुखी रह सकता है। जो स्त्री-पुरुष सदा एक-दूसरे के पास बैठने की इच्छा करते हैं, वे थोड़े ही समय में एक-दूसरे से तंग आ जाते हैं। परन्तु जो पुरुष अपने पवित्र संकल्प की तत्परता से सूर्यवत् देदीप्य-मान रहता है, उसकी पत्नी का चेहरा भी उषा के समान खिला रहता है और प्रातःकाल उसे अपने निश्चित कार्य पर भेजती हुई वह "लालो लाल" हो जाती है। क्योंकि उसे अभिमान होता है कि मेरा पति निठल्ला नहीं है, एक महत्त्वपूर्ण व्रत पर लगा हुआ है।

अब सायंकाल के मन्त्रों की व्याख्या करते हैं—

जो संकल्पाग्नि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि पुरुष ने हृदय में धारण की है, वह दिन के समय चमककर सूर्य का रूप धारण कर लेती है। परन्तु रात को भी वह बुझती नहीं। उस समय भी वह सच्चे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के हृदय में जागती रहती है। उन्हें स्वप्न भी आते हैं, तो अपने संकल्प के। इसीलिए सायंकाल के मन्त्रों में उन संकल्पों को अग्नि कहा है। इसी अग्नि के विषय में सोमयाग-दीक्षा में सोते समय दीक्षित कहता है—

अग्ने त्वं सुजागृहि वयं सुमन्दिषीमहि रक्षा णो अप्रयुच्छन् ॥

—यजुः० ४।१४

'हे संकल्पाग्ने ! हम मस्त होकर सोएँ, परन्तु उस समय भी तू जाग और अप्रमत्त होकर हमारी रखवाली कर।'

अब इस अग्नि की महिमा इस प्रकार है—

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा।

'जहाँ संकल्पाग्नि जल रहा है, वहीं ज्ञान की ज्योति है, जहाँ ज्ञान की ज्योति है, वहीं संकल्पाग्नि है, क्या ठीक कहा (स्वाहा) !'

ओम् अग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा

'संकल्पाग्नि ही शरीर को दीप्तिमान् बनाती है और ज्ञान-ज्योति ही शरीर को दीप्तिमान् बनाती है।'

अब तीसरी आहुति इस मन्त्र से दी जाती है—

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा।

किन्तु यह आहुति मौन होकर दी जाती है। इसका कारण यह कि सायंकाल हो गया, अब सारे जगत् के कार्यों का अवसान हो रहा है। सब धीरे-धीरे मौन हो जावेंगे। इस समय अपने संकल्प में ऐसा ध्यान गड़ाओ कि प्रगाढ़ निद्रा में भी वही संस्कार तुम्हारे साथ रहे। और यदि किसी रात्रि में गर्भाधान करो, तब भी वह अग्नि तुम्हारे साथ हो, जिससे उसी के प्रबल संस्कार लेकर बालक जन्मे। अग्नि का विस्तार अक्षय रहे, जिससे वह बच्चा सच्चे अर्थों में सन्तान कहलाए (सम्+तन्+घञ्; तनु विस्तारे)। इसीलिए मनुष्य के जीवन-संकल्प के आदरार्थ, उसमें अत्यन्त अभिनिवेशार्थ, यह आहुति मौन की गई है। इसीलिए इसका नाम प्राजापत्याहुति है, क्योंकि इसका सम्बन्ध प्रजा अर्थात् सन्तान के पति जगदीश्वर से विशेष है। प्रजापति, बृहस्पति, दोनों ही परमात्मा के नाम हैं, परन्तु इनका सूक्ष्म भेद इस प्रकार पता लगता है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

यह मन्त्र उपनयन-संस्कार का है। किन्तु केवल एक शब्द के भेद से यह विवाह-संस्कार में भी आया है। वहाँ केवल इतना भेद है कि बृहस्पति के स्थान में प्रजापति शब्द है। दोनों नाम परमात्मा के हैं, किन्तु तो भी गृह्यसूत्रकार की सम्मति में ब्रह्मचर्य के प्रकरण में, गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में, बृहस्पति नाम अधिक उपयुक्त है। और विवाह के प्रकरण में प्रजापति नाम अधिक उपयुक्त है। जहाँ-जहाँ प्राजापत्य

आहुति आए, उसे मुख्य सङ्कल्प-सम्बन्धी आहुति समझना चाहिये। अगली आहुति का मन्त्र यों है—

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा।

अब रात्रि को भी दिन बनाने का सामर्थ्य यदि किसी में है तो विद्युत् में। घनघोर बादलों में भी जब वह चमक उठती है, तो जगत् चमक उठता है। और विद्वान् जब उसे विज्ञान से वश में कर लेते हैं, तो रात को दिन बना लेते हैं। इसलिए इस मन्त्र में पति-पत्नी इस प्रकार कहते हैं कि—

(देवेन) देव (सवित्रा) सविता के साथ (सजूः) सेवायुक्त अर्थात् देव सविता की आज्ञा में तत्पर तथा (इन्द्रवत्या रात्र्या) विद्युन्मयी रात्रि के साथ (सजूः) प्रीतियुक्त (अग्निः) अग्नि (वेतु) मेरे घर में प्राप्त हो।

जिस प्रकार मेघवती रात्रि में बिजली रात्रि में मिली रहती है, इसी प्रकार रात्रि में पति-पत्नी के हृदय मिले रहें और जब चमके तो प्रकाश ही हो, अर्थात् संकल्पाग्नि ही चमके।

तात्पर्य यह है कि पति-पत्नी को चाहिये कि रात्रि को सोने से पूर्व बातचीत इस प्रकार की करें जिससे उनका जीवन-सङ्कल्प दृढ़ हो।

गुरु और गुरुपत्नी के लिए शिष्य प्रार्थना करे कि उनकी कृपा से हमारे चित्त रात्रि में भी शिवसङ्कल्प में लीन हों। और यदि गुरु नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो तो ज्ञानाग्नि और विश्रान्ति-दायिनी शिष्य-वत्सलता का जोड़ा निद्रा में पड़े हमारी रक्षा करे—इस प्रकार अर्थ करना।

अब यज्ञ के उपसंहार के लिए जिस भूर्भुवः स्वः से इसका आरम्भ हुआ था, उसी की ओर आते हैं—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा।

वह परमात्मा भूः है, अर्थात् ब्रह्माण्ड में होनेवाली सम्पूर्ण गति का आदि-कारण है। अग्नि जिस प्रकार जल, तैल आदि को वायु-रूप बनाकर उनके द्वारा गति करवाती है, उसी प्रकार परमात्मा इस ब्रह्माण्ड की गतियों का भूः है। जिस प्रकार शरीर प्राण के आधार पर खड़ा है, इसी प्रकार ब्रह्माण्ड उसके सहारे जीता है। अतः वह भूः है। शब्दार्थ है—

(भूः) भूः इस नामवाले (अग्नये) सब ब्रह्माण्ड-यात्रा के अग्रणी (प्राणाय) प्राणों के प्राण उस परमात्मा के निमित्त ही हम सब चेष्टा करते हैं।

अग्नि उस अवस्था का नाम है, जो चेष्टा का मूल कारण है और जिसे मानव-भाषा में ज्ञान कहते हैं। परमात्मा के ज्ञान के अनुकूल ही सब चेष्टा होती है। परन्तु वह चेष्टा जहाँ परमात्मा के ज्ञान के अनुकूल हो रही है, उसे ब्रह्म के सम्बन्ध में भुवः कहते हैं। स्थूल जगत् में भी चेष्टा वायु द्वारा होती है, यह हम पहले कह आए हैं। इसीलिए कहा—

ओं भुववायवेऽपानाय स्वाहा।

जिस प्रकार वायु को अन्दर लेना प्राण और बाहर फेंकना अप+अन्=अपान है, इसी प्रकार ज्ञान जब चेष्टा-रूप में आता है, तब उसका अपानन अर्थात् बाहर प्रक्षेप होता है। इसलिए कहा है कि—

'हम भुवः अर्थात् सर्वत्रगति करते हुए दुःखों के अपनयन करनेवाले भगवान् के निमित्त ही सब व्यवहार करते हैं।'

उत्तम चेष्टा का परिणाम सुख है। वह भगवान् ही सम्पूर्ण सुखों का निधान है। उसका वह एक-रस आनन्दमयरूप सच्ची चेष्टावालों को मिलता है। उस समय चेष्टा बन्द हो जाती है और उस अपूर्व रस का आस्वादन होता है। जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से हम

तक पहुँचता है—स्वयं चलकर नहीं आता, इसी प्रकार भगवान् की वह ज्योति श्रेय-रूप है। अतएव कहा—

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा।

अर्थात् 'जिस प्रकार इस स्थूल जगत् में आदित्य है, इसी प्रकार वह स्वः अर्थात् सुख-स्वरूप भगवान् ब्रह्माण्ड में व्यान=व्यापक है। उसके निमित्त ही सम्पूर्ण यज्ञ है।'

भगवान् के ये तीन गुण जिस प्रकार उसमें पूर्ण रूप से विकसित हुए और फिर भी एक-साथ विद्यमान हैं, इसी प्रकार हमारे अन्दर भी ये गुण हों, तब ही इन तीनों गुणों के सङ्गतिकरण से हमारा यज्ञ पूरा होगा। इसीलिए कहा—

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा।

'भूर्भुवः स्वः इन तीनों के वाच्य अग्नि, वायु, आदित्य के समान जो भगवान् के प्राणापानव्यान-रूप तीन गुण हैं, उनको अपने अन्दर धारण करने के लिए ही हम यज्ञ करते हैं।'

अब सम्पूर्ण यज्ञ-क्रिया का उपसंहार एक वाक्य में करते हैं—

'आपः और ज्योति' अर्थात् सोम और अग्नि, ये दोनों जहाँ ठीक भाव से लें, वहीं सच्चा रस है। वह रस ही सच्चा अमृत है। वह अमृत परब्रह्म है। उसके स्वरूप को ही "भूर्भुवः स्वः" इनः तीन महाव्याहृतियों में कहा है, और यह महाव्याहृति ही ओ३म् है। इस ओ३म् के 'अ उ म्' तीन महाव्याहृतियों के सूचक हैं। जिस प्रकार ओ३म् में सब घुल-मिल गए हैं, वैसे ही तुम भी अपने अन्दर भगवान् के गुणों का पूर्ण संगतिकरण करो। यही यज्ञ-क्रिया का सार है। इसीलिए कहा—

ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा।

अब तक यहाँ अग्नि के आधान, उद्दीपन आदि का वर्णन होता रहा। अब अन्त में ईश्वर-प्रार्थना के तीन मन्त्र देकर इस यज्ञ को समाप्त करते हैं। हम लाख संगठन करें, किन्तु जब तक उनमें ईश्वर-प्रणिधान नहीं मिलता, तब तक उनमें पूर्णता नहीं आती।

यों तो **'अग्नये जातवेदसे इदन्न मम'** कहकर सारे यज्ञ को ही परमाग्नि परब्रह्म के अर्पण किया जाता है, किन्तु ये ३ मन्त्र तो स्पष्ट ही प्रार्थना के मन्त्र हैं और इतने स्पष्ट हैं कि उनका सीधा अर्थ दे देना ही पर्याप्त है—

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनङ्कुरु स्वाहा। यजु:० ३२।१४

"हे परमाग्ने परमेश्वर! जिस पवित्र बुद्धि के लिए देवगण और पितर लोग तेरे द्वारे आते हैं, वह मेधा देकर मुझे भी मेधावी बना।"

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आसुव। —यजु:० ३०।३

"हे सकल जगत् के प्रेरक देव! सब बुराइयों को हमसे दूर हटाइये और समस्त उत्तम गुणों को हममें स्थापित कीजिए।"

ओम् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥ —यजु:० ४०।१६

"हे अग्ने! आप सब मार्गों के जाननेहारे हैं। हम धन-प्राप्ति के लिए लोभवश सत्यमार्ग से भटक जाते हैं, अतः आप हमें सदा सुपथ से ले जाइये। इस अर्थ-प्राप्ति के मार्ग में कुटिलगामी पाप जब हमें

आ दबाए, तो आप उसे हमसे परे हटा दीजिये। हम यही बार-बार नमः कहकर आपसे माँगते हैं।" अन्त में वाक्य है—

ओं सर्व्वं वै पूर्णं स्वाहा।

इसका अर्थ यह है कि कोई कार्य ठीक हुआ तब जानो, जब वह पूर्ण हो जावे। जब तक कार्य पूर्णता तक न पहुँच जावे, क्षणिक सफलता से सन्तोष न होना चाहिए।

अथ वैश्वदेव यज्ञ

प्रातःकाल देव-यज्ञ के पश्चात् वैश्वदेव यज्ञ है। वैश्वदेव का अर्थ है, वह यज्ञ जिसमें सम्पूर्ण विश्व का देव-अंश सामने आ जाय। सूर्य, पृथिवी आदि जड़ पदार्थों तथा ब्राह्मण, राजा आदि चेतनों में जो देव-अंश है, अर्थात् देने की सामर्थ्य है, वह इतनी स्पष्ट है कि सबको स्वयं समझ में आ जाती है; किन्तु कुछ-न-कुछ देव-अंश हर पदार्थ में छिपा हुआ है। जब कान में खाज उठती है, तो तिनके का देव-अंश प्रकट होता है, क्योंकि उस समय तिनका जो सुख हमें "देता है" वह सुई, तलवार, चमचा, पंखा कोई पदार्थ नहीं दे सकता।

भोजनशाला में प्रवेश का समय मनुष्य के अभिमान में आने का समय है, इसलिए ठीक भोजन से पूर्व यह यज्ञ रक्खा गया है। इस समय मनुष्य कहता है कि मैं जो अन्न खा रहा हूँ, इसमें संसार-भर के देवों ने भाग लिया है, इसलिये मैं उनके निमित्त 'नमः' अर्थात् अन्न निकालकर फिर भोजन खाता हूँ।

वैश्वदेव की आहुतियाँ निम्नलिखित हैं—

ओम् अग्नये स्वाहा।

अभिमान-दोष से रहित होकर मैं संकल्पाग्नि की ठीक रक्षा कर सकूँ, इसलिए प्रथमाहुति है। वह स्वाहा, बहुत अच्छी है।

ओं सोमाय स्वाहा।

मुझमें सोम अर्थात् मधुर अंश सदा बना रहे, इस निमित्त यह दूसरी आहुति है।

ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा।

इन दोनों अंशों का उचित समन्वय मुझमें रहे। किसी की अति-मात्रा नहीं, इस बात के स्मरणार्थ तीसरी आहुति है।

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा।

संसार-भर में जिधर देखता हूँ, उधर सब देव-ही-देव हैं अर्थात् यह सारा जड़ तथा चेतन जगत् मुझे कुछ-न-कुछ देता है, इस बात के स्मरणार्थ यह चौथी आहुति है।

ओं धन्वन्तरये स्वाहा।

धन्व मरुभूमि को कहते हैं। सो जिस परमात्मा तथा जिन शिल्पशास्त्रियों की कृपा के बिना मैं मरुभूमि में प्यासा मर जाऊँ, उन धन्व अर्थात् मरुभूमि तक से तारनेवालों—पार उतारनेवालों का मैं विशेष ऋणी हूँ। इस बात के स्मरणार्थ यह पाँचवीं आहुति है।

ओं 'कु' ह्वै स्वाहा।

'कु' अर्थात् बुरी-से-बुरी धरती को भी 'हू' अर्थात् पुकारनेवाली अर्थात् अपनी आज्ञा में चलाकर उससे भी अन्न उत्पन्न करनेवाली जो कृषि-शास्त्र के जाननेवालों की विद्या है, उसका भी मैं ऋणी हूँ। इस बात के स्मरणार्थ यह छठी आहुति है।

ओम् अनुमत्यै स्वाहा।

उन नाना शिल्पशास्त्रियों के साथ लगे हुए सहस्रों श्रमजीवियों ने यह अन्न और जल मुझे दिया है। वे प्रसन्नता से इस कार्य में लगे थे। यदि उनकी अनुमति के बिना बलपूर्वक उनसे काम लिया जाता, तो यह अन्न मुझे खा जाता। सो उन श्रमजीवियों के लिए मैं उनका ऋणी हूँ। इस बात के स्मरणार्थ यह सातवीं आहुति है।

ओं प्रजापतये स्वाहा।

उस सम्पूर्ण प्रजा के पालनेहारे प्रभु ने अपनी कृपा से हमें प्रेम-शक्ति दी है, जिससे ये सब मेरे सहायक हुए। इसलिए उसके स्मरणार्थ यह आठवीं आहुति है।

ओं द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा।

और भी इस धरती और आकाश के बीच मेरे नाना सहायक होंगे, जिनका मैं पृथक् नाम नहीं ले सकता। इसलिए सब नभचरों और थलचरों का मैं ऋणी हूँ। ऐसा कहने के लिए यह नवम आहुति है।

ओं स्विष्टकृते स्वाहा।

हम जानते-बूझते भी आहार-व्यवहार में मर्यादा से न्यून वा अधिक करते रहते हैं। इसलिए अन्त में कभी न्यून वा अधिक न करने वाले उस प्रभु का स्मरण करते हैं। वही स्विष्टकृत् है। उसके स्मरणार्थ यह दशम आहुति है।

यह दश आहुतियाँ भात की, अथवा क्षार-लवण-रहित अन्न की चूल्हे की अग्नि में, अथवा अन्य अँगीठी आदि की अग्नि में करनी। क्षार-लवण का धुआँ आँखों को हितकर नहीं, किन्तु चिकने तथा मीठे पदार्थों का हितकर है। इसलिए लवणान्न आदि की आहुति नहीं करनी।

अब केवल आहुतिमात्र से सन्तुष्ट न होकर उनके निमित्त अन्न निकालना। इस निमित्त पत्तल व थाली में अन्न-भाग रखकर फिर उसे मन्त्र पढ़के जहाँ-जहाँ बताया जाय, वहाँ रखना।

ओं सानुगायेन्द्राय नमः।

राजा और उसके चपरासी तक का मैं ऋणी हूँ। इसलिए उसके निमित्त अन्न-भाग निकालता हूँ।

इससे पूर्व में—

ओं सानुगाय यमाय नमः।

न्यायाधीश और उसके धर्मात्मा अनुचर तक का मैं ऋणी हूँ। इसलिए उसके लिए अन्न-भाग निकालता हूँ।

इससे दक्षिण में—

ओं सानुगाय वरुणाय नमः।

पुलिस के अध्यक्ष तथा उसके अनुचरों का भी मैं ऋणी हूँ। इसलिए उनके लिए अन्न-भाग निकालता हूँ।

इससे पश्चिम में—

ओं सानुगाय सोमाय नमः।

औषध-विभाग के अध्यक्ष तथा उसके अनुचरों का भी मैं ऋणी हूँ। इसलिए उनके लिए अन्न-भाग निकालता हूँ।

इससे उत्तर में—

ओं मरुद्भ्यो नमः।

राष्ट्र के द्वार-रक्षक जो सैनिक लोग हैं, उनके लिए भी अन्न-भाग निकालता हूँ।

इससे द्वार में—

ओम् अद्भ्यो नमः।

जल-विभाग के जो अध्यक्ष नहर आदि के बनानेवाले हैं, उनका भी मैं ऋणी हूँ। इसलिए उनके लिए भी अन्न-भाग निकालता हूँ।

इससे जल (घड़े आदि पर अन्न-भाग रक्खे)।

ओं वनस्पतिभ्यो नमः।

जो वन के रखनेवाले अर्थात् जंगल के अधिकारी हैं, उनके लिए भी मैं अन्न-भाग निकालता हूँ।

इससे ऊखल, मूसल या अन्य किसी लकड़ी की वस्तु पर अन्न-भाग रक्खे।

ओं श्रियै नमः।

राज्य के आश्रयभूत जो अन्य शिल्पकार लोग हैं, जो राज्य की सच्ची श्री हैं, उनके लिए मैं अन्न-भाग निकालता हूँ।

इससे ईशान में—

ओं भद्रकाल्यै नमः।

जो दण्डनीय लोगों को हमारे और उनके कल्याण के लिए माता

के समान हाँकती है, उस जेल की शासन करनेवाली मण्डली के निमित्त मैं अन्न-भाग निकालता हूँ।

इससे नैर्ऋत्य में—

ओं ब्रह्मपतये नमः ; ओं वास्तुपतये नमः।

जिन ब्राह्मणों के सहारे मेरा कुल और जिन शिल्पियों के सहारे यह स्थूल घर खड़ा है, उनके निमित्त मैं अन्न-भाग निकालता हूँ।

इससे मध्य में—

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ; ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ; ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः।

विश्वदेवों को अन्न-भाग। दिवाचरों को अन्न-भाग। नक्तंचारियों को अन्न-भाग। समाप्ति में जैसे धरती-आकाश के सब लोगों का ऋण स्वीकार किया था, अब काल की दृष्टि से सबको गिन लिया कि दिन-रात सबके पहरेदार, जो हमें दिन-रात सतर्क रहने का उपदेश करते हैं, उनके लिए अन्न-भाग।

इनसे छत पर में—

ओं सर्वात्मभूतये नमः।

इससे पृष्ठ में—

जो ऊपर कहने में बच गये, उन सबके लिए भी अन्न-भाग। इसीलिए यह पृष्ठ में रक्खा जाता है।

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः।

स्वधा अर्थात् पेन्शन के अधिकारी पितर लोगों के लिए यह स्वधा अन्न निकालता हूँ। यह फिर दक्षिण, क्योंकि पितरों को अपने सामने, दाहिने ओर (आदरार्थ) बैठाकर खिलाना धर्म है। धन्य हैं वे लोग जो अपने हाथों से इस प्रकार माता-पिता आदि की सेवा करते हैं।

यह अन्न-भाग पूर्व, दक्षिण आदि स्थानों में रखकर, फिर उठाकर थाली में रख लेना, और चाहे तो अतिथि-यज्ञ के अन्न में मिला लेना, चाहे अग्नि में डाल देना। स्वयं नहीं खाना।

इसके पश्चात्—

कौवा, कुत्ता, कुत्तों का सेवक, समाज-बहिष्कृत लोग, कोढ़ी आदि, कीड़े तथा कौवे आदि के निमित्त छह भाग निकालकर इनको दे देना।

क्योंकि ये लोग भी देवता हैं, वे हमको दुष्ट मार्ग से बचने के लिए भय देते हैं, वे कहते हैं कि देखो हम भी कभी अच्छे लोग थे, पर अपने अपराधों के कारण दण्ड देकर क्या बना दिये गये हैं। लोगो ! जो अपराध हमने किये हैं, सो तुम मत करना !

इस प्रकार सबका भाग निकालकर मनुष्य अतिथि-यज्ञ करे।

अथ अतिथि-यज्ञ

इस यज्ञ की महिमा अथर्ववेद के नवम काण्ड के छठे सूक्त में बड़े विस्तार से दी गई है।

इसमें विशेष ध्यान देने योग्य ये पंक्तियाँ हैं—

तस्मान्न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयात्।
न मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य।
तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात्॥

जिसका अन्न खाये, द्वेष करता हुआ न खाये। जो द्वेष से अन्न खिलाता हो, उसका अन्न न खाये। जिसके विषय में मन में सन्देह हो कि भला आदमी है वा नहीं, उसका अन्न न खाये। जो तुम्हारे विषय में उलझन में पड़ा हो कि खिलाऊँ या न खिलाऊँ, उसका न खाये।

अतिथि को खिलाये बिना अन्न न खाये, अतिथि-यज्ञ की महिमा अथर्ववेद में पढ़कर पता लगता है कि अकेले अन्न खाना आर्य को कितना बुरा लगता है, और किसी को खिलाकर खाने में उसे कितना आनन्द अनुभव होता है। जिसने बालकपन से यह उत्तम शिक्षा पाई हो, वह मनुष्य कभी स्वार्थी नहीं हो सकता।

अथ पितृ-यज्ञ

अब पितृ-यज्ञ की व्याख्या करते हैं। जो देव लोग हमारा उपकार करते-करते क्षीण हो गये हैं, वे पितर कहलाते हैं। इसीलिए उनको जो अन्न दिया जाता है वह स्व+धा=स्वधा कहलाता है। जिन्होंने वर्षों तक हमपर उपकार किया है, वे अब हमें कुछ दें या न दें, फिर भी वे सेवा के पात्र हैं, क्योंकि वे स्व अर्थात् हमारे अपने हो चुके हैं। अब जो हम उनकी सेवा करते हैं, वह उनके कृत उपकारों का स्मरण करते हैं, न कि क्रियमाण और करिष्यमाण उपकारों के विचारों से। इसीलिए यह अन्न स्वधा अर्थात् अपनों को धारण करनेवाला अन्न कहलाता है।

इस यज्ञ के तीन काल हैं—

(१) अपराह्णे पिण्ड-पितृ-यज्ञः। (शत० २।४।२।७, ८)

कुर्य्यादहरहः श्राद्धं पितृभ्यः प्रीतिमावहन्।
पयोमूलफलैर्वाऽपि मुन्यन्नैश्चापि सर्व्वशः॥

(२) अमावास्या में पितृ-यज्ञ।

(३) वार्षिक पितृ-यज्ञ।

इसका अभिप्राय यह है कि (१) नित्य पितरों को भोजन दें।

(२) प्रतिमास जब वेतन मिले, तो उसमें से पितरों के पालनार्थ

भाग वानप्रस्थाश्रम में पहुँचा दें, अथवा घर बुलाकर सत्कारपूर्वक दें।

(३) जो ऐसा भी न कर सकें, तो वर्ष में एक वार बुलाकर सत्कार करें और वर्ष-भर के निर्वाहार्थ अन्नादि सामग्री उन्हें देकर विदा करें, जिससे यदि वे वानप्रस्थ में भिक्षा करें, तो अभिमान दूर करने के लिए करें, जीवन-निर्वाह के लिए मजबूर होकर नहीं।

इसी अन्नदान का ही नाम पिण्डदान है। क्योंकि जो माता-पिता जीवन-काल में ही सारा वैभव त्यागकर वानप्रस्थ में चले जाते हैं, उनके लिए सन्तान के हृदय में एक विशेष श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसलिए उन्हें बुलाकर जो सेवा की जाती है, उसका ही नाम श्राद्ध है।

इस यज्ञ के लिए अपराह्न-काल इसलिए रक्खा कि उस समय स्त्रियाँ तथा घर के भृत्यादि सब भोजन से निवृत्त हो लेते हैं, इसलिए वृद्धजनों से ज्ञान-चर्चा सुनने का वही उचित काल है। पुरुष लोग तो अन्यत्र भी तथा अन्य समयों में भी ज्ञान-चर्चा सुन लेते हैं, किन्तु कुल-वधुओं को ज्ञान-चर्चा सुनने का यही समय है और विद्या-वयोवृद्ध लोगों को ही उनके बीच बैठकर उपदेश देना शोभा देता है, क्योंकि उन्होंने न केवल विद्या पढ़ी है किन्तु संसार का अनुभव भी पाया है।

रहा स्वधा का अन्न, सो उससे तो विद्या-हीन पितरों का भी सत्कार उचित है। कोई समय था, जब अपने देश में घर के नौकर, यहाँ तक कि भङ्गी भी गाँव में चाचा, ताऊ, नाना आदि शब्दों से पुकारे जाते थे और पितरों में गिने जाते थे। आज यह सुन्दर प्रेम-भरी व्यवस्था लोप हो रही है। यदि पितृ-यज्ञ के पढ़ने से इस व्यवस्था का पुनरुद्धार हो जाय, तो हम अपना यत्न सफल समझेंगे। इस प्रकार प्रातः-सायं प्रभु-स्मरण द्वारा उसके गुणों को सीखकर, देव-

यज्ञ द्वारा समाज के प्रति कर्त्तव्य-पालन करना सीखकर, वैश्वदेव द्वारा निरभिमान हो, अतिथि-यज्ञ द्वारा सहृदयता और पितृ-यज्ञ द्वारा कृतज्ञता का पाठ सीखकर, जो मनुष्य यज्ञमय होकर विचरते हैं, वे अपने और दूसरों के जीवन को पुण्यमय बनाकर कृतकृत्य होते हैं। परमात्मा कृपा करें, जिससे यह धरती फिर एक बार यज्ञमय हो जाय।

□□□

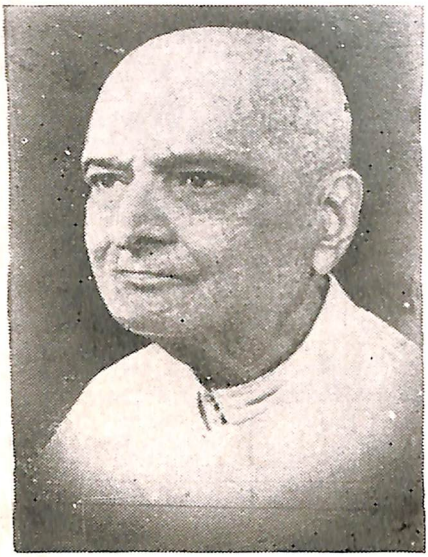

स्वामी समर्पणानन्द एक अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न विलक्षण विचक्षण व्यक्ति थे। वे संस्कृत के गम्भीर विद्वान् थे। साहित्य में उनकी गहरी पैठ थी। संस्कृतसाहित्य की दोनों विधाओं पर उनका असाधारण अधिकार था। वे महाकवि बाण का-सा गद्य लिखने में सक्षम थे तो उनकी पद्य-रचना भी कवि कालिदास और भवभूति से किसी प्रकार कम न थी, किन्तु उनकी मनीषा का नैसर्गिक गोचर विषय वेदिक सारस्वत का गंभीर गवेषण था। वेद एवं वैदिक वाङ्मय पर जब भी वे बोलने अथवा लिखने लगते तो वेद मन्त्रों एवं ब्राह्मण-वाक्यों के परत स्वतः ही स्फूर्त होकर स्वाभाविकता के साथ खुलने लग जाते थे, तो उपस्थित है उनके द्वारा पञ्चमहायज्ञों का खोला गया रहस्य।

दीक्षानन्द

कल्याणार्थिना सामुदायिकं योगक्षममुद्दिश्य समुदायाङ्गतया क्रियमाणं कर्म यज्ञः।

कल्याणार्थी स्वयं को समुदाय का अंग मानकर सामुदायिक योगक्षेम को अभिलक्ष्य करके जो कर्म करता है वह यज्ञ है।

पञ्चैतांस्तु महायज्ञान् यथाशक्ति न हापयेत्॥

ब्रह्मयज्ञ—प्रभुभक्ति, स्वाध्याय, आत्मिकशक्ति तथा ज्ञानवृद्धिके लिये।

देवयज्ञ—परस्पर सहयोग का तत्त्व सीखने के लिये।

वैश्वदेवयज्ञ—अभिमान दूर करने के लिये।

अतिथियज्ञ—उपदेशकर्ता से ज्ञान प्राप्ति तथा उसकी सेवा के लिए।

पितृयज्ञ—कृतज्ञता की भावना दृढ़ करने तथा ज्ञान-प्राप्ति के लिए।

समर्पणानन्द